# तत्त्वज्ञान पाठमाला
## (भाग–१)

(श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड, जयपुर द्वारा निर्धारित)

*सम्पादक :*

**डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल**

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पी-एच.डी.

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

*प्रकाशक :*

**मगनमल सौभागमल पाटनी**

**फैमिली चैरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई**

एवं

**पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**

ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२०१५ (राजस्थान)

**हिन्दी :**

प्रथम आठ संस्करण : ३० हजार १००
(१९६९ से अद्यतन)
नवम संस्करण : २ हजार
(वीरशासन जयन्ती, २२ जुलाई २००५)
**योग : ३२ हजार १००**

**अंग्रेजी :**

दो संस्करण : ५ हजार २००

**गुजराती :**

प्रथम संस्करण : २ हजार १००

**महायोग : ३९ हजार ४००**

## विषय-सूची



| क्र. | नाम पाठ | लेखक | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| १. | श्री सीमन्धर पूजन | डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर | ०३ |
| २. | सात तत्त्व सम्बन्धी भूलें | पं. रतनचन्द भारिल्ल, जयपुर | ०७ |
| ३. | लक्षण और लक्षणाभास | डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर | १३ |
| ४. | पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ | श्री नेमीचन्द पाटनी, आगरा | १९ |
| ५. | सुख क्या है ? | डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर | ३१ |
| ६. | पंच भाव | पं. खीमचंद जेठालाल सेठ, सोनगढ़ | ३५ |
| ७. | चार अभाव | डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर | ४४ |
| ८. | पाँच पाण्डव | डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर | ५१ |
| ९. | भावना बत्तीसी | श्री जुगलकिशोर 'युगल', कोटा | ६० |



**प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने हेतु ३०००/- रुपये श्री मगनमल सौभागमल पाटनी फैमिली चैरिटेबल ट्रस्ट, मुंबई द्वारा सधन्यवाद प्राप्त हुए।**

**मुद्रक : प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड**
बाईस गोदाम, जयपुर

मूल्य : **पाँच रुपए**



## पाठ १ | श्री सीमन्धर पूजन

**स्थापना**

भव-समुद्र सीमित कियो, सीमन्धर भगवान।
कर सीमित[१] निजज्ञान को, प्रगट्यो पूरण ज्ञान।।
प्रकट्यो पूरण ज्ञान-वीर्य-दर्शन सुखधारी,
समयसार अविकार विमल चैतन्य-विहारी।
अंतर्बल से किया प्रबल रिपु-मोह पराभव,
अरे भवान्तक ! करो अभय हर लो मेरा भव।।

ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्र ! अत्र अवतर अवतर संवौषट्, आह्वाननम्। अत्र तिष्ठ तिष्ठ, ठः ठः, स्थापनम्। अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्, सन्निधिकरणम्।

**जल**

प्रभुवर ! तुम जल-से शीतल हो, जल-से निर्मल अविकारी हो।
मिथ्यामल धोने को जिनवर, तुम ही तो मल-परिहारी हो।।
तुम सम्यग्ज्ञान जलोदधि हो, जलधर अमृत बरसाते हो।
भविजन-मन-मीन प्राणदायक, भविजन मन-जलज खिलाते हो।।
हे ज्ञानपयोनिधि सीमन्धर ! यह ज्ञान प्रतीक समर्पित है।
हो शान्त ज्ञेयनिष्ठा मेरी, जल से चरणाम्बुज चर्चित है।।

ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा।

**चंदन**

चंदन-सम चन्द्रवदन जिनवर, तुम चन्द्रकिरण से सुखकर हो।
भव-ताप निकंदन हे प्रभुवर ! सचमुच तुम ही भव-दुख-हर हो।।
जल रहा हमारा अन्तःस्तल, प्रभु इच्छाओं की ज्वाला से।
यह शान्त न होगा हे जिनवर रे ! विषयों की मधुशाला से।।
चिर-अंतर्दाह मिटाने को, तुम ही मलयागिरि चन्दन हो।
चंदन से चरचूँ चरणांबुज, भव-तप-हर ! शत-शत वन्दन हो।।

ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय संसारतापविनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा।

---
१. ज्ञान को पर से हटा कर अपने में ही लगाना

### अक्षत

प्रभु ! अक्षतपुर के वासी हो, मैं भी तेरा विश्वासी हूँ।
क्षत-विक्षत में विश्वास नहीं, तेरे पद का प्रत्याशी हूँ।।
अक्षत का अक्षत-संबल ले, अक्षत-साम्राज्य लिया तुमने।
अक्षत-विज्ञान दिया जग को, अक्षत-ब्रह्माण्ड[१] किया तुमने।।
मैं केवल अक्षत-अभिलाषी, अक्षत अतएव चरण लाया।
निर्वाण-शिला के संगम-सा, धवलाक्षत मेरे मन भाया।।
ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा।

### पुष्प

तुम सुरभित ज्ञान-सुमन हो प्रभु, नहिं राग-द्वेष दुर्गन्ध कहीं।
सर्वांग सुकोमल चिन्मय तन, जग से कुछ भी सम्बन्ध नहीं।।
निज अंतर्वास सुवासित हो, शून्यान्तर पर की माया से।
चैतन्य-विपिन के चितरंजन, हो दूर जगत की छाया से।।
सुमनों से मन को राह मिली, प्रभु कल्पबेलि से यह लाया।
इनको पा चहक उठा मन-खग, भर चोंच चरण में ले आया।।
ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा।

### नैवेद्य

आनंद-रसामृत के द्रह हो, नीरस जड़ता का दान नहीं।
तुम मुक्त-क्षुधा के वेदन से, षट्रस का नाम-निशान नहीं।।
विध-विध व्यंजन के विग्रह से, प्रभु भूख न शान्त हुई मेरी।
आनंद-सुधारस-निर्झर तुम, अतएव शरण ली प्रभु तेरी।।
चिर-तृप्ति-प्रदायी व्यंजन से, हो दूर क्षुधा के अंजन ये।
क्षुत्पीड़ा कैसे रह लेगी ? जब पाये नाथ निरंजन ये।।
ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा।

### दीप

चिन्मय-विज्ञान-भवन अधिपति, तुम लोकालोक-प्रकाशक हो।
कैवल्य किरण से ज्योतित प्रभु ! तुम महामोहतम नाशक हो।।
तुम हो प्रकाश के पुंज नाथ ! आवरणों की परछाँह नहीं।
प्रतिबिंबित पूरी ज्ञेयावलि, पर चिन्मयता को आँच नहीं।।

१. पूर्ण शुद्ध स्वभाव पर्याय





ले आया दीपक चरणों में, रे ! अन्तर आलोकित कर दो।
प्रभु तेरे मेरे अन्तर[१] को, अविलंब निरन्तर से भर दो।।
ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय मोहांधकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा।

### धूप

धू-धू जलती दुःख की ज्वाला, प्रभु त्रस्त निखिल जगतीतल है।
बेचेत पड़े सब देही हैं, चलता फिर राग प्रभंजन है।।
यह धूम घूमरी खा-खाकर, उड़ रहा गगन की गलियों में।
अज्ञान-तमावृत चेतन ज्यों, चौरासी की रंग-रलियों में।।
सन्देश धूप का तात्त्विक प्रभु, तुम हुए ऊर्ध्वगामी जग से।
प्रकटे दशांग[२] प्रभुवर ! तुम को, अन्तःदशांग की सौरभ से।।
ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय अष्टकर्मदहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा।

### फल

शुभ-अशुभ वृत्ति एकान्त दुःख अत्यन्त मलिन संयोगी है।
अज्ञान विधाता है इसका, निश्चित चैतन्य विरोधी है।।
काँटों सी पैदा हो जाती, चैतन्य-सदन के आँगन में।
चंचल छाया की माया-सी, घटती क्षण में बढ़ती क्षण में।।
तेरी फल-पूजा का फल प्रभु ! हों शान्त शुभाशुभ ज्वालायें।
मधुकल्प फलों-सी जीवन में, प्रभु ! शान्ति-लतायें छा जायें।।
ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा।

### अर्घ्य

निर्मल जल-सा प्रभु निजस्वरूप, पहिचान उसी में लीन हुए।
भव-ताप उतरने लगा तभी, चन्दन-सी उठी हिलोर हिये।।
अभिराम भवन प्रभु अक्षत का, सब शक्ति प्रसून लगे खिलने।
क्षुत् तृषा अठारह दोष क्षीण, कैवल्य प्रदीप लगा जलने।।
मिट चली चपलता योगों की, कर्मों के ईंधन ध्वस्त हुए।
फल हुआ प्रभो ! ऐसा मधुरिम, तुम धवल निरंजन स्वस्थ हुए।।
ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

१. फर्क, २. उत्तम क्षमादि दशधर्म

## जयमाला

वैदही हो देह में, अतः विदेही नाथ।
सीमन्धर निज सीम में, शाश्वत करो निवास।।
श्री जिन पूर्व विदेह में, विद्यमान अरहन्त।
वीतराग सर्वज्ञ श्री, सीमन्धर भगवन्त।।
हे ज्ञानस्वभावी सीमन्धर ! तुम हो असीम आनन्दरूप।
अपनी सीमा में सीमित हो, फिर भी हो तुम त्रैलोक्य भूप।।
मोहान्धकार के नाश हेतु, तुम ही हो दिनकर अति प्रचण्ड।
हो स्वयं अखंडित कर्म शत्रु को, किया आपने खंड-खंड।।
गृहवास राग की आग त्याग, धारा तुमने मुनिपद महान।
आतमस्वभाव साधन द्वारा, पाया तुमने परिपूर्ण ज्ञान।।
तुम दर्शन ज्ञान दिवाकर हो, वीरज मंडित आनन्दकन्द।
तुम हुए स्वयं में स्वयं पूर्ण, तुम ही हो सच्चे पूर्णचन्द।।
पूरब विदेह में हे जिनवर ! हो आप आज भी विद्यमान।
हो रहा दिव्य उपदेश, भव्य पा रहे नित्य अध्यात्म ज्ञान।।
श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव को, मिला आपसे दिव्य ज्ञान।
आत्मानुभूति से कर प्रमाण, पाया उनने आनन्द महान।।
पाया था उनने समयसार, अपनाया उनने समयसार।
समझाया उनने समयसार, हो गये स्वयं वे समयसार।।
दे गये हमें वे समयसार, गा रहे आज हम समयसार।
है समयसार बस एक सार, है समयसार बिन सब असार।।
मैं हूँ स्वभाव से समयसार, परिणति हो जाये समयसार।
है यही चाह, है यही राह, जीवन हो जाये समयसार।।
ॐ ह्रीं श्री सीमंधरजिनेन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये जयमाला पूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।
समयसार है सार, और सार कुछ है नहीं।
महिमा अपरम्पार, समयसारमय आपकी।।
(पुष्पांजलिं क्षिपेत्)

---

**प्रश्न –**

१. जल, चन्दन और फल का छन्द अर्थसहित लिखिए।



# पाठ २ | सात तत्त्व सम्बन्धी भूलें

## आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी

(व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व)

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी के पिता श्री जोगीदासजी खण्डेलवाल दिगंबर जैन गोदीका गोत्रज थे और माँ थी रंभाबाई। वे विवाहित थे। उनके दो पुत्र थे – हरिश्चन्द्र और गुमानीराम। गुमानीराम महान् प्रतिभाशाली और उनके समान ही क्रान्तिकारी थे। यद्यपि पण्डितजी का अधिकांश जीवन जयपुर में ही बीता; किन्तु उन्हें अपनी आजीविका के लिए कुछ समय सिंघाणा अवश्य रहना पड़ा था। वे वहाँ दिल्ली के एक साहूकार के यहाँ कार्य करते थे।

परम्परागत मान्यतानुसार उनकी आयु यद्यपि २७ वर्ष मानी जाती है; किन्तु उनकी साहित्यसाधना, ज्ञान व नवीनतम प्राप्त उल्लेखों व प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित हो चुका है कि वे ४७ वर्ष तक जीवित रहे। उनकी मृत्यु वि. सं. १८२३-२४ लगभग निश्चित है, अत: उनका जन्म वि. सं. १७७६-७७ में होना चाहिए।

उनकी सामान्य शिक्षा जयपुर की एक आध्यात्मिक (तेरापंथ) सैली में हुई; परन्तु अगाध विद्वत्ता केवल अपने कठिन श्रम एवं प्रतिभा के बल पर ही उन्होंने प्राप्त की, उसे बाँटा भी दिल खोलकर। वे प्रतिभासम्पन्न, मेधावी और अध्ययनशील थे। प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी के अतिरिक्त उन्हें कन्नड़ भाषा का भी ज्ञान था। आपके बारे में वि. संवत् १८२१ में ब्र. रायमलजी इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका में लिखते हैं – ''ऐसे महन्त बुद्धि के धारक पुरुष इस काल विषैं होना दुर्लभ है, तातैं वासु मिले सर्व संदेह दूर होय हैं।''

आप स्वयं मोक्षमार्ग प्रकाशक में अपने अध्ययन के बारे में लिखते हैं – ''टीका सहित समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र इत्यादि शास्त्र; अरु क्षपणासार, पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय, अष्टपाहुड़, आत्मानुशासन आदि शास्त्र; अरु श्रावक मुनि के आचार

निरूपक अनेक शास्त्र; अरु सुष्ठु कथा सहित पुराणादि शास्त्र इत्यादि अनेक शास्त्र हैं; तिनि विषैं हमारे बुद्धि अनुसार अभ्यास वर्ते है।''

उन्होंने अपने जीवन में छोटी-बड़ी बारह रचनाएँ लिखी, जिनका परिमाण करीब एक लाख श्लोक प्रमाण और पाँच हजार पृष्ठ के करीब है। इनमें कुछ तो लोकप्रिय ग्रंथों की विशाल प्रामाणिक टीकाएँ हैं और कुछ हैं स्वतन्त्र रचनाएँ। वे गद्य और पद्य दोनों रूपों में पाई जाती हैं। वे कालक्रमानुसार निम्नलिखित हैं -

१) रहस्यपूर्ण चिट्ठी (वि. सं. १८११)
२) गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषा टीका
३) गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषा टीका
४) अर्थसंदृष्टि अधिकार
५) लब्धिसार भाषा टीका
६) क्षपणासार भाषा टीका
} * सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका (वि. सं. १८१८)
७) गोम्मटसार पूजा
८) त्रिलोकसार भाषा टीका
९) समवशरण रचना वर्णन
१०) मोक्षमार्ग प्रकाशक (अपूर्ण)
११) आत्मानुशासन भाषा टीका
१२) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषा टीका (अपूर्ण)

इसे पण्डित दौलतरामजी कासलीवाल ने वि. सं. १८२७ में पूर्ण किया।

उनकी गद्य शैली परिमार्जित, प्रौढ़ एवं सहज बोधगम्य हैं। उनकी शैली का सुन्दरतम रूप उनके मौलिक ग्रंथ 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में देखने को मिलता है। उनकी भाषा मूलरूप में ब्रज होते हुए भी उसमें खड़ी बोली का खड़ापन भी है और साथ ही स्थानीय रंगत भी। उनकी भाषा उनके भावों को वहन करने में पूर्ण समर्थ व परिमार्जित है। आपके संबंध में विशेष जानकारी के लिये 'पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व' नामक ग्रंथ देखना चाहिये।

प्रस्तुत अंश 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के सप्तम अधिकार के आधार पर लिखा गया है। निश्चय-व्यवहार की विशेष जानकारी के लिये 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के सप्तम अधिकार का अध्ययन करना चाहिये।

---

* गोम्मटसार जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड भाषा टीका, लब्धिसार व क्षपणासार भाषा टीका एवं अर्थसंदृष्टि अधिकार को 'सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका' भी कहते हैं।



# सात तत्त्व सम्बन्धी भूलें

जब तक जीवादि सात तत्त्वों का विपरीताभिनिवेश[१] रहित सही भावभासन[२] न हो, तब तक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जैन शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर भी मिथ्यादृष्टि जीव को तत्त्व का सही भावभासन नहीं होता।

## जीव और अजीव तत्त्व सम्बन्धी भूल

१. जैन शास्त्रों में वर्णित जीव के त्रस-स्थावरादि तथा गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि भेदों तथा अजीव के पुद्गलादि भेदों व वर्णादि पर्यायों को तो जानता है, पर अध्यात्म शास्त्रों में वर्णित भेदविज्ञान और वीतराग दशा होने के कारणभूत कथन को नहीं पहिचानता।

२. यदि प्रसंगवश उन्हें जान भी ले तो शास्त्रानुसार जान लेता है, परन्तु अपने को आप रूप जानकर पर का अंश अपने में न मिलाना और अपना अंश पर में न मिलाना - ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता।

३. अन्य मिथ्यादृष्टियों के समान यह भी आत्माश्रित ज्ञानादि तथा शरीराश्रित उपदेश, उपवासादि क्रियाओं में अपनत्व[३] मानता है।

४. शास्त्रानुसार आत्मा की चर्चा करता हुआ भी यह अनुभव नहीं करता कि मैं आत्मा हूँ और शरीरादि मुझसे भिन्न हैं, जैसे और ही की बातें कर रहा हो ऐसे ही शरीरादि और आत्मा को भिन्न बताता है।

५. जीव और पुद्गल के परस्पर निमित्त से अनेक क्रियायें होती हैं, उन्हें दोनों की सम्मिलित क्रिया मानता है। यह नहीं जानता कि यह जीव की क्रिया है, पुद्गल इसका निमित्त है; यह पुद्गल की क्रिया है, जीव इसका निमित्त है - ऐसा भिन्न-भिन्न भाव भासित नहीं होता।

## आस्रव तत्त्व सम्बन्धी भूल

१. हिंसादि रूप पापास्रवों को तो हेय[४] मानता है, पर अहिंसादि रूप पुण्यास्रवों को उपादेय[५] मानता है; किन्तु दोनों बंध के कारण होने से हेय ही हैं।

२. जहाँ वीतराग होकर ज्ञाता-दृष्टारूप रहे, वहाँ निर्बन्ध[६] है, वही उपादेय

---

१. उल्टी मान्यता या उल्टा अभिप्राय, २. अन्तरंग ज्ञान, ३. अपनापन,
४. त्यागने योग्य, ५. ग्रहण करने योग्य, ६. बंध का अभाव

है। जब तक ऐसी दशा न हो, तब तक प्रशस्तराग[१] रूप प्रवर्तन करे; परन्तु श्रद्धा तो ऐसी रखे कि यह भी बंध का कारण है; हेय है। श्रद्धा में इसे मोक्षमार्ग माने तो मिथ्यादृष्टि ही है।

३. मिथ्यात्वादि आस्रवों के अन्तरंग स्वरूप को तो पहिचानता नहीं है; उनके बाह्य रूप को ही आस्रव मानता है। जैसे –

(क) गृहीत मिथ्यात्व को ही मिथ्यात्व जानता है; परतु अनादि अगृहीत मिथ्यात्व है, उसे नहीं पहिचानता।

(ख) बाह्य जीवहिंसा और इन्द्रिय–मन के विषयों में प्रवृत्ति को अविरति जानता है, पर हिंसा में प्रमाद परिणति मूल है तथा विषय सेवन में अभिलाषा[२] मूल है, उसे नहीं जानता।

(ग) बाह्य क्रोधादि को ही कषाय मानता है। अभिप्राय में जो राग–द्वेष रहते हैं, उन्हें नहीं पहिचानता।

(घ) बाह्य चेष्टा को ही योग मानता है। अन्तरंग शक्तिभूत योग को नहीं जानता।

४. जो अंतरंग अभिप्राय में मिथ्यात्वादिरूप रागादिभाव हैं, वस्तुत: वे ही आस्रवभाव हैं। इनकी पहिचान न होने से आस्रव तत्त्व का भी सही श्रद्धान नहीं है।

## बन्ध तत्त्व सम्बन्धी भूल

१. पापबंध के कारण अशुभ भावों को तो बुरा जानता है, पर पुण्यबंध के कारण शुभ भावों को भला मानता है। पुण्य–पाप का भेद तो अघाति कर्मों में है, घातिया तो पापरूप ही है तथा शुभ भावों के काल में भी घाति कर्म तो बंधते ही रहते हैं, अत: शुभ भाव बंध के ही कारण होने से भले कैसे हो सकते हैं ?

## संवर तत्त्व सम्बन्धी भूल

१. अहिंसादिरूप शुभास्रवों को संवर जानता है, पर एक ही कारण से पुण्यबंध और संवर दोनों कैसे हो सकते हैं ? उसका उसे पता नहीं।

२. शास्त्र में कहे संवर के कारण गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र को भी यथार्थ नहीं जानता। जैसे –

(क) पाप चिंतवन न करे, मौन धारण करे, गमनादि न करे, उसे गुप्ति मानता है; पर भक्ति आदिरूप प्रशस्तराग से नाना विकल्प[३] होते हैं, उनकी तरफ लक्ष्य नहीं। वीतरागभाव होने पर मन–वचन–काय की चेष्टा न हो – वही सच्ची गुप्ति है।

(ख) इसीप्रकार यत्नाचार प्रवृत्ति को समिति मानता है, पर उसे यह पता नहीं कि हिंसा के परिणामों से पाप होता है और रक्षा के परिणामों से संवर कहोगे तो पुण्यबंध किससे होगा ? मुनियों के किंचित् राग होने पर गमनादि क्रिया होती है, वहाँ उन क्रियाओं में अत्यासक्ति के अभाव में प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती तथा अन्य जीवों को दु:खी करके अपना गमनादि प्रयोजन नहीं साधते, अत: स्वयमेव दया पलती है – यही सच्ची समिति है।

(ग) बंधादिक के भय से, स्वर्ग–मोक्ष के लोभ से क्रोधादि न करे। क्रोधादि का अभिप्राय मिटा नहीं, पर अपने को क्षमादि धर्म का धारक मानता है। तत्त्वज्ञान के अभ्यास से जब कोई पदार्थ इष्ट और अनिष्टरूप भासित नहीं होते, तब स्वयमेव ही क्रोधादि उत्पन्न नहीं होते – तब सच्चा धर्म होता है।

(घ) अनित्यादि भावना के चिन्तवन से शरीरादिक को बुरा जान उदास होने को अनुप्रेक्षा कहता है पर उसकी उदासीनता द्वेषरूप होती है। वस्तु का सही रूप पहिचान कर भला जान राग नहीं करना, बुरा जान द्वेष नहीं करना – यही सच्ची उदासीनता है।

(च) क्षुधादिक होने पर उसके नाश का उपाय नहीं करने को परिषहजय मानता है; अन्तर में क्लेशरूप परिणाम रहते हैं, उन पर ध्यान नहीं देता। इष्ट–अनिष्ट में सुखी–दु:खी नहीं होना व ज्ञाता–दृष्टा रहना यही सच्चा परिषहजय है।

(छ) हिंसादि के त्याग को चारित्र मानता है तथा महाव्रतादि शुभ योग को उपादेय मानता है, पर तत्त्वार्थसूत्र में आस्रवाधिकार में अणुव्रत–महाव्रत को आस्रवरूप कहा है, वे उपादेय कैसे हो सकते हैं ? तथा बंध का कारण होने से महाव्रतादि को चारित्रपना सम्भव नहीं है। सकल कषाय रहित उदासीन भाव, उसी का नाम चारित्र है। मुनिराज मन्द कषायरूप महाव्रतादि का पालन तो करते हैं, पर उन्हें मोक्षमार्ग नहीं मानते।

१. शुभ राग, २. इच्छा ३. राग–द्वेषयुक्त विचार

### निर्जरा तत्त्व सम्बन्धी भूल

१. वीतराग भावरूप तप को तो जानता नहीं है, बाह्य क्रिया में ही लीन रहे, उसे ही तप मानकर उससे निर्जरा मानता है।

२. उसे यह पता नहीं कि जितना शुद्ध भाव है, वह तो निर्जरा का कारण है और जितना शुभ भाव है वह बंध का कारण है। निश्चय धर्म तो वीतराग भाव है, वही निर्जरा का कारण है।

### मोक्ष तत्त्व सम्बन्धी भूल

१. मोक्ष और स्वर्ग के सुख को एक जाति का मानता है; जबकि स्वर्गसुख इन्द्रियजन्य है और मोक्षसुख अतीन्द्रिय।

२. स्वर्ग और मोक्ष के कारण को भी एक मानता है, जबकि स्वर्ग का कारण शुभ भाव है और मोक्ष का कारण शुद्ध भाव।

इस प्रकार जैन शास्त्रों के पढ़ लेने के बाद भी सातों तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान बना रहता है।

---

**प्रश्न –**

१. जैन शास्त्रों के अध्ययन कर लेने पर भी क्या कोई जीव मिथ्यादृष्टि रह सकता है ? यदि हाँ, तो किस प्रकार ? स्पष्ट कीजिए।
२. यह आत्मा जीव और अजीव के सम्बन्ध में क्या भूल करता है ?
३. पुण्य को मुक्ति का कारण मानने में क्या आपत्ति है ? इस मान्यता से कौन–कौन से तत्त्वसम्बन्धी भूलें होंगी ?
४. स्वर्ग और मोक्ष में कारण और स्वरूप की अपेक्षा भेद बताइये।
५. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए –
गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, चारित्र, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय।
६. पण्डित टोडरमलजी के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

# पाठ ३ लक्षण और लक्षणाभास

### अभिनव धर्मभूषण यति

व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

(१३५८–१४१८ ई.)

धर्मभूषण नाम के कई जैन साहित्यकार हुए हैं। उन सबसे पृथक् बतलाने के लिए इनके नाम के आगे अभिनव शब्द और अन्त में यति शब्द जुड़ा मिलता है। ये कुन्दकुन्दाम्नायी थे और इनके गुरु का नाम वर्द्धमान था।[१] इनका अस्तित्व १३५८ से १४१८ ई. तक माना जाता है।[२]

इनके प्रभाव और व्यक्तित्व सूचक जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे पता चलता है कि ये अपने समय के बड़े ही प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले महापुरुष थे। राजाधिराज परमेश्वर की उपाधि से विभूषित प्रथम देवराय इनके चरणों में मस्तक झुकाया करते थे।[३]

जैनधर्म की प्रभावना करना तो इनके जीवन का व्रत था ही, किन्तु ग्रन्थ–रचना कार्य में भी इन्होंने अपनी अनोखी सूझबूझ, तार्किक शक्ति और विद्वत्ता का पूरा–पूरा उपयोग किया है। आज हमें इनकी एकमात्र अमर रचना 'न्यायदीपिका' प्राप्त है, जिसका जैन न्याय में अपना एक विशिष्ट स्थान है। 'न्यायदीपिका' संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त सुविशद एवं महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें संक्षेप में प्रमाण और नय का तर्कसंगत वर्णन है। यद्यपि न्यायग्रन्थों की भाषा अधिकांशत: दुरूह और गंभीर होती है; किन्तु इस ग्रन्थ की भाषा सरल एवं सुबोध संस्कृत है।

प्रस्तुत पाठ इसके आधार पर ही लिखा गया है।

१. न्यायदीपिका प्रस्तावना : वीर सेवा मंदिर सरसावा, पृष्ठ : ९२–९३
२. वही, पृष्ठ : ९९–१००
३. मिडियावल जैनिज्म, पृष्ठ : २९९

# लक्षण और लक्षणाभास

**प्रवचनकार –** किसी भी वस्तु को जानने के लिए उसका लक्षण (परिभाषा) जानना बहुत आवश्यक है, क्योंकि बिना लक्षण जाने उसे पहिचानना तथा सत्यासत्य का निर्णय करना सम्भव नहीं है। वस्तुस्वरूप के सही निर्णय बिना उसका विवेचन असम्भव है; यदि किया जायगा तो जो कुछ भी कहा जायगा, वह गलत होगा। अतः प्रत्येक वस्तु को गहराई से जानने के पहिले उसका लक्षण जानना बहुत जरूरी है।

**जिज्ञासु –** लक्षण जानना आवश्यक है – यह तो ठीक है, पर लक्षण कहते किसे हैं ? पहले यह तो बताइये।

**प्रवचनकार –** तुम्हारा प्रश्न ठीक है। किसी भी वस्तु का लक्षण जानने से पहिले लक्षण की परिभाषा जानना भी आवश्यक है, क्योंकि यदि हम लक्षण की परिभाषा ही न जानेंगे तो फिर विवक्षित वस्तु का जो लक्षण बनाया गया है, वह सही ही है – इसका निश्चय कैसे किया जा सकेगा।

**अनेक मिली हुई वस्तुओं (पदार्थों) में से किसी एक वस्तु (पदार्थ) को पृथक् करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं।**[१]

जैसा कि अकलंकदेव ने राजवार्तिक में कहा है –

**''परस्पर मिली हुई वस्तुओं में से कोई एक वस्तु जिसके द्वारा अलग की जाती है, उसे लक्षण कहते हैं।''**

**जिज्ञासु –** और लक्ष्य ?

**प्रवचनकार – जिसका लक्षण किया जाय, उसे लक्ष्य कहते हैं।** जैसे – जीव का लक्षण चेतना है, इसमें 'जीव' लक्ष्य हुआ और 'चेतना' लक्षण। लक्षण से जिसे पहिचाना जाता है, वही तो लक्ष्य है।

लक्षण दो प्रकार के होते हैं – आत्मभूत लक्षण और अनात्मभूत लक्षण।

**जो लक्षण वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ हो, उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं।** जैसे – अग्नि की उष्णता। उष्णता अग्नि का स्वरूप होती हुई जलादि

१. ''व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्।''
– न्यायदीपिका : वीर सेवा मंदिर सरसावा, पृष्ठ : ५

२. ''परस्परव्यतिकरे सति येनाऽन्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्।''
– न्यायदीपिका : वीर सेवा मंदिर सरसावा, पृष्ठ : ६



पदार्थों से उसे पृथक् करती है, अतः उष्णता अग्नि का आत्मभूत लक्षण है। **जो लक्षण वस्तु से मिला हुआ न हो, उससे पृथक् हो, उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं।** जैसे – दंडवाले पुरुष (दंडी) का दंड। यद्यपि दंड पुरुष से भिन्न है, फिर भी वह अन्य पुरुषों से उसे पृथक् करता है, अतः वह अनात्मभूत लक्षण हुआ।

राजवार्तिक में भी इन भेदों का स्पष्टीकरण इसी प्रकार किया है – 'अग्नि की उष्णता आत्मभूत लक्षण है और देवदत्त का दण्ड अनात्मभूत लक्षण है।'[१]

आत्मभूत लक्षण वस्तु का स्वरूप होने से वास्तविक लक्षण है; त्रिकाल वस्तु की पहिचान उससे ही की जा सकती है। अनात्मभूत लक्षण संयोग की अपेक्षा से बनाया जाता है, अतः वह संयोगवर्ती वस्तु की संयोगरहित अन्य वस्तुओं से भिन्न पहिचान कराने का मात्र तत्कालीन बाह्य प्रयोजन सिद्ध करता है। त्रिकाली असंयोगी वस्तु का (वस्तुस्वरूप) निर्णय करने के लिए आत्मभूत (निश्चय) लक्षण ही कार्यकारी है। असंयोगी आत्मतत्त्व का ज्ञान उससे ही हो सकता है।

किसी भी वस्तु का लक्षण बनाते समय बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता है, क्योंकि वही लक्षण आगे चलकर परीक्षा का आधार बनता है। यदि लक्षण सदोष हो तो वह परीक्षा की कसौटी को सहन नहीं कर सकेगा और गलत सिद्ध हो जावेगा।

**शंकाकार –** तो लक्षण सदोष भी होते हैं ?

**प्रवचनकार –** लक्षण तो निर्दोष लक्षण को ही कहते हैं। **जो लक्षण सदोष हों, उन्हें लक्षणाभास कहा जाता है।** लक्षणाभासों में तीन प्रकार के दोष पाये जाते हैं –

१) अव्याप्ति, २) अतिव्याप्ति और ३) असम्भव दोष।

**लक्ष्य के एकदेश में लक्षण के रहने को अव्याप्ति दोष कहते हैं।** जैसे – गाय का लक्षण सांवलापन या पशु का लक्षण सींग कहना। सांवलापन सभी गायों में नहीं पाया जाता है, इसी प्रकार सींग भी सभी पशुओं के नहीं पाये जाते हैं;

१. ''तत्रात्मभूतमग्नेरौष्ण्यमनात्मभूतं देवदत्तस्य दण्डः।''
– न्यायदीपिका : वीर सेवा मंदिर सरसावा, पृष्ठ : ६

२. ''लक्ष्यैकदेशवृत्त्यव्याप्तं, यथा – गोः शावलेयत्वं।''
– न्यायदीपिका : वीर सेवा मंदिर सरसावा, पृष्ठ : ७

अत: ये दोनों लक्षण अव्याप्ति दोष से युक्त हैं।[२]

**शंकाकार –** यदि गाय का लक्षण सींग मानें तो ...... ?

**प्रवचनकार –** तो फिर वह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से युक्त हो जावेगा; क्योंकि **जो लक्षण लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में रहे, उसे अतिव्याप्ति दोष से युक्त कहते हैं।**[१]

**जिज्ञासु –** यह अलक्ष्य क्या है ?

**प्रवचनकार – लक्ष्य के अतिरिक्त दूसरे पदार्थों को अलक्ष्य कहते हैं।** यद्यपि सब गायों के सींग पाये जाते हैं, किन्तु सींग गायों के अतिरिक्त अन्य पशुओं के भी तो पाये जाते हैं। यहाँ 'गाय' लक्ष्य है और 'गाय को छोड़कर अन्य पशु' अलक्ष्य हैं, तथा दिया गया लक्षण 'सींगों का होना' लक्ष्य 'गायों' और अलक्ष्य गायों के अतिरिक्त अन्य पशुओं में भी पाया जाता है। अत: यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से युक्त है।

लक्षण ऐसा होना चाहिये जो पूरे लक्ष्य में तो रहे, किन्तु अलक्ष्य में न रहे। पूरे लक्ष्य में व्याप्त न होने पर अव्याप्ति और लक्ष्य व अलक्ष्य में व्याप्त होने पर अतिव्याप्ति दोष आता है।

**जिज्ञासु –** और असंभव ?

**प्रवचनकार – लक्ष्य में लक्षण की असंभवता को असंभव दोष कहते हैं।** जैसे – 'मनुष्य का लक्षण सींग।' यहाँ मनुष्य लक्ष्य है और सींग का होना लक्षण कहा जाता है, अत: यह लक्षण असंभव दोष से युक्त है।

मैं समझता हूँ अब तो लक्षण और लक्षणाभासों का स्वरूप तुम्हारी समझ में अच्छी तरह आ गया होगा।

**श्रोता –** आ गया ! अच्छी तरह आ गया !!

**प्रवचनकार –** आ गया तो बताओ 'जिसमें केवलज्ञान हो, उसे जीव कहते हैं' क्या जीव का यह लक्षण सही है ?

**श्रोता –** नहीं, क्योंकि यहाँ जीव 'लक्ष्य' है और केवलज्ञान 'लक्षण'।

१. ''लक्ष्यालक्ष्यवृत्त्यतिव्याप्तं यथा तस्यैव पशुत्वं।''
– न्यायदीपिका : वीर सेवा मंदिर सरसावा, पृष्ठ : ७

२. ''बाधितलक्ष्यवृत्त्यसम्भवि यथा नरस्य विषाणित्वम्।''
– न्यायदीपिका : वीर सेवा मंदिर सरसावा, पृष्ठ : ७



लक्षण संपूर्ण लक्ष्य में रहना चाहिए, किन्तु केवलज्ञान सब जीवों में नहीं पाया जाता है, अत: यह लक्षण अव्याप्ति दोष से युक्त है। यदि इस लक्षण को सही मान लें तो मति-श्रुतज्ञानवाले हम और आप सब अजीव ठहरेंगे।

**प्रवचनकार –** तो मति-श्रुतज्ञान को जीव का लक्षण मान लो।

**श्रोता –** नहीं ! क्योंकि ऐसा मानेंगे तो अरहंत और सिद्धों को अजीव मानना होगा; क्योंकि उनके मति-श्रुतज्ञान नहीं हैं। अत: इसमें भी अव्याप्ति दोष है।

**प्रवचनकार –** तुमने ठीक कहा। अब कोई दूसरा श्रोता उत्तर देगा – जो अमूर्तिक हो उसे जीव कहते हैं, क्या यह ठीक है ?

**श्रोता –** हाँ, क्योंकि अमूर्तिक तो सभी जीव हैं, अत: इसमें अव्याप्ति दोष नहीं है।

**प्रवचनकार –** यह लक्षण भी ठीक नहीं है। यद्यपि इसमें अव्याप्ति दोष नहीं है, किन्तु अतिव्याप्ति दोष है; क्योंकि जीवों के अतिरिक्त आकाशद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और कालद्रव्य भी तो अमूर्तिक हैं। उक्त लक्षण में 'जीव' है लक्ष्य और 'जीव के अतिरिक्त अन्य द्रव्य यानी अजीव द्रव्य' हुए अलक्ष्य। यद्यपि सब जीव अमूर्तिक हैं; किन्तु जीव के अतिरिक्त आकाशादि द्रव्य भी तो अमूर्तिक हैं, मूर्तिक तो एकमात्र पुद्गल द्रव्य ही है, अत: उक्त लक्षण लक्ष्य के साथ अलक्ष्य में भी व्याप्त होने से अतिव्याप्ति दोष से युक्त है। यदि 'जो अमूर्तिक सो जीव' ऐसा माना जायगा तो फिर आकाशादि अन्य चार द्रव्यों को भी जीव मानना होगा।

**शंकाकार –** यदि आत्मा का लक्षण वर्ण-गंध-रस-स्पर्शवान माना जाय तो ?

**प्रवचनकार –** यह बात तुमने खूब कही ! क्या सो रहे थे ? यह तो असम्भव बात है। आत्मा में वर्णादिक का होना संभव ही नहीं है। इसमें तो असंभव नाम का दोष आता है, ऐसे ही दोष को तो असंभव दोष कहा जाता है।

**शंकाकार –** इन लक्षणों में तो आपने दोष बता दिये, तो फिर आप बताइये न कि जीव का सही लक्षण क्या होगा ?

**प्रवचनकार –** जीव का सही लक्षण चेतना अर्थात् उपयोग है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है – 'उपयोगो लक्षणम्।' न इसमें अव्याप्ति दोष है, क्योंकि चेतना

(उपयोग) सभी जीवों के पाया जाता है और न अतिव्याप्ति दोष है, क्योंकि उपयोग जीव के अतिरिक्त किसी भी द्रव्य में नहीं पाया जाता है, और असंभव दोष तो हो ही नहीं सकता है, क्योंकि सब जीवों के उपयोग (चेतना) स्पष्ट देखने में आता है।

इसीप्रकार प्रत्येक लक्षण पर घटित कर लेना चाहिये और नवीन लक्षण बनाते समय इन बातों का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए।

**श्रोता** – एक-दो उदाहरण देकर और समझाइये न ?

**प्रवचनकार** – नहीं, समय हो गया है। मैंने एक उदाहरण अंतरंग यानी आत्मा का और एक उदाहरण बाह्य यानी गाय, पशु आदि का देकर समझा दिया है, अब तुम स्वयं अन्य पर घटित करना। यदि समझ में न आवे तो आपस में चर्चा करना। फिर भी समझ में न आवे तो कल फिर मैं विस्तार से अनेक उदाहरण देकर समझाऊँगा।

ध्यान रखो समझ में समझने से आता है, समझाने से नहीं; अत: स्वयं समझने के लिए प्रयत्नशील व चिन्तनशील बनना चाहिए।

**प्रश्न –**

१. लक्षण किसे कहते हैं ? ---

२. लक्षणाभासों में कितने प्रकार के दोष होते हैं ? नाम सहित लिखिए।

३. निम्नलिखित में परस्पर अंतर बताइये –
  (क) आत्मभूत लक्षण और अनात्मभूत लक्षण।
  (ख) अव्याप्ति दोष और अतिव्याप्ति दोष।

४. निम्नलिखित कथनों की परीक्षा कीजिए –
  (क) जो अमूर्तिक हो उसे जीव कहते हैं।
  (ख) गाय को पशु कहते हैं।
  (ग) पशु को गाय कहते हैं।
  (घ) जो खट्टा हो उसे नींबू कहते हैं।
  (च) जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण हो उसे पुद्‌गल कहते हैं।

५. अभिनव धर्मभूषण यति के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए।

पाठ ४

# पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ

### कविवर पण्डित बनारसीदास
(व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व)

अध्यात्म और काव्य दोनों क्षेत्रों में सर्वोच्च प्रतिष्ठाप्राप्त पण्डित बनारसीदासस सत्रहवीं शताब्दी के रससिद्ध कवि और आत्मानुभवी विद्वान् थे।

आपका जन्म श्रीमाल वंश में जौनपुर निवासी लाला खरगसेन के यहाँ सं. १६४३ में माघ सुदी एकादशी, रविवार को हुआ था। उस समय इनका नाम विक्रमजीत रखा गया था; परन्तु बनारस की यात्रा के समय पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी के नाम पर इनका नाम बनारसीदास रखा गया।[१] बनारसीदास के कोई भाई न था, पर बहिनें दो थीं।[२]

आपने अपने जीवन में बहुत ही उतार-चढ़ाव देखे थे। आर्थिक विषमता का सामना भी आपको बहुत बार करना पड़ा था तथा आपका पारिवारिक जीवन भी कोई अच्छा नहीं रहा। आपकी तीन शादियाँ हुई, ९ सन्तानें हुई, ७ पुत्र एवं २ पुत्रियाँ; पर एक भी जीवित नहीं रहीं। उन्होंने 'अर्द्धकथानक' में स्वयं लिखा है –

कही पचावन बरस लौं, बानारसि की बात।
तीनि बिवाहीं भारजा, सुता दोइ सुत सात।।
नौ बालक हुए मुए, रहे नारि-नर दोइ।
ज्यों तरुवर पतझार ह्वै, रहे ठूंठ से होई।।[३]

१. अर्द्धकथानक : हिन्दी ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय मुम्बई, पृष्ठ : ११
२. वही, पृष्ठ : ३२
३. वही, पृष्ठ : ७१

ऐसी विषम स्थिति में भी आपका धैर्य भंग नहीं हुआ, क्योंकि ये आत्मानुभवी महापुरुष थे।

कविर पण्डित बनारसीदास उस आध्यात्मिक क्रान्ति के जन्मदाता थे, जो तेरहपंथ के नाम से जानी जाती है और जिसने जिनमार्ग पर छाये भट्टारकवाद को उखाड़ फेंका था तथा जो आगे चलकर आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल का संस्पर्श पाकर सारे उत्तर भारत में फैल गई थी।

काव्यप्रतिभा तो आपको जन्म से ही प्राप्त थी। १४ वर्ष की उम्र में आप उच्च कोटि की कविता करने लगे थे, पर प्रारम्भिक जीवन में श्रृंगारिक कविताओं में मग्न रहे। इनकी सर्वप्रथम कृति 'नवरस' १४ वर्ष की उम्र में तैयार हो गई थी, जिसमें अधिकांश श्रृंगार रस ही का वर्णन था। यह श्रृंगार रस की एक उत्कृष्ट कृति थी, जिसे विवेक जागृत होने पर कवि ने गोमति नदी में बहा दिया।

इसके पश्चात् आपका जीवन अध्यात्ममय हो गया और उसके बाद की रचित चार रचनायें प्राप्त हैं – नाटक समयसार, बनारसी विलास, नाममाला और अर्द्धकथानक।

'अर्द्धकथानक' हिन्दी भाषा का प्रथम आत्म-चरित्र है जो कि अपने में एक प्रौढ़तम कृति है। इसमें कवि का ५५ वर्ष का जीवन आईने के रूप में चित्रित है। विविधताओं से युक्त आपके जीवन से परिचित होने के लिए इसे अवश्य पढ़ना चाहिए।

'बनारसी विलास' कवि की अनेक रचनाओं का संग्रह-ग्रंथ है और 'नाममाला' कोष-काव्य है।

'नाटक समयसार' अमृतचंद्राचार्य के कलशों का एक तरह से पद्यानुवाद है, किन्तु कवि की मौलिक सूझबूझ के कारण इसके अध्ययन में स्वतंत्र कृति-सा आनंद आता है। यह ग्रंथराज अध्यात्मरस से सराबोर है।

यह पाठ इसी नाटक समयसार के चतुर्दश गुणस्थानाधिकार के आधार पर लिखा गया है। विशेष अध्ययन के लिए मूल ग्रंथ का अध्ययन करना चाहिए।

कवि अपनी आत्म-साधना और काव्य-साधना दोनों में ही बेजोड़ हैं।

---



# पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक और उसकी ग्यारह प्रतिमाएँ

आचार्य उमास्वामी का वाक्य है – 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:।' – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन प्राप्त जीव की श्रद्धा (प्रतीति तो सम्यक् हो गई, तदनुसार ज्ञान भी सम्यक् हो गया तथा स्वरूप में आंशिक स्थिरता प्रगट हो जाने से मोक्षमार्ग का आरंभ भी हो गया है, किन्तु मात्र उतनी ही स्वरूपस्थिरता चारित्र संज्ञा प्राप्त नहीं करती; इस कारण उस जीव को चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रती श्रावक कहा गया है।

उपरोक्त चतुर्थ गुणस्थानवर्ती श्रावक विशेष पुरुषार्थपूर्वक स्वरूपस्थिरता (लीनता) बढ़ाकर पंचम गुणस्थान प्राप्त करता है। वह स्वरूपस्थिरता ही देशचारित्र है और वही पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक है। इसप्रकार जो स्वरूपस्थिरता (वीतरागता) की वृद्धि होती है और रागांश घटते हैं, उसे निश्चय प्रतिमा (निश्चय देशचारित्र) कहते हैं। उसे यथोचित स्वरूपस्थिरतारूप निश्चय प्रतिमा के साथ जो कषाय मंदतारूप भाव रहते हैं, वह व्यवहार प्रतिमा अर्थात् व्यवहार देशचारित्र है। उसके साथ ही तदनुकूल बाह्य प्रवृत्ति होती है, वह यथार्थ में तो व्यवहार प्रतिमा भी नहीं है; लेकिन उपरोक्त कषाय मंदता के साथ तदनुकूल ही बाह्य प्रवृत्ति होती है, अत: उसको भी व्यवहार से प्रतिमा कहा जाता है।

निज त्रिकाल ज्ञायक स्वभाव के अनुभव एवं लीनता बिना अकेली कषायों की मंदता व तदनुकूल बाह्य क्रिया प्रतिमा नहीं है; अत: जिसको पंचम गुणस्थान नहीं हो, उसको यथार्थ प्रतिमा नहीं हो सकती।

सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मा के ज्ञायक स्वरूप में पंचम गुणस्थान योग्य स्थिरता ही यथार्थ देशचारित्र है और वही निश्चय से प्रतिमा है, वह आत्मानुभव के बिना संभव नहीं है।

अविरत सम्यग्दृष्टि (चतुर्थ गुणस्थानवर्ती) श्रावक का स्वरूप पण्डित बनारसीदासजी ने इसप्रकार लिखा है –

सत्य प्रतीति अवस्था जाकी, दिन-दिन रीति गहै समता की।
छिन-छिन करै सत्य कौ साकौ, समकित नाम कहावै ताकौ।।[1]

१. नाटक समयसार : पण्डित बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छंद : २७

जिसकी प्रतीति (श्रद्धा) में आत्मा का सही स्वरूप आ गया हो, जिसको सत्य स्वरूप की प्रसिद्धि क्षण-क्षण बढ़ रही हो व दिन-प्रतिदिन समताभाव वृद्धिंगत हो रहा हो, वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

उपरोक्त अनुभूति की नित्य वृद्धिंगत अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभावरूप अवस्था ही पंचम गुणस्थान है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती श्रावक को अपने आत्मा के आनंद का साक्षात् निर्विकल्प अनुभव तो हो गया है, लेकिन लीन होने का पुरुषार्थ मंद होने से वह अनुभव जल्दी-जल्दी नहीं आता एवं बहुत थोड़े काल ही ठहरता है, तथा इस अवस्था में अव्रत के भाव ही रहते हैं, व्रत परिणाम नहीं हो पाते; किन्तु पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक को अप्रत्याख्यानरूपी अचारित्रभाव का यानी कषायों का स्वरूप-रमणता के तीव्र पुरुषार्थ द्वारा अभाव कर देने से अनुभव भी जल्दी-जल्दी आने लगता है एवं स्थिरता का काल भी बढ़ जाता है तथा परिणति में वीतरागता भी बढ़ जाती है। यही कारण है कि उस साधक जीव की संसार, देह एवं भोगों के प्रति सहज ही आसक्ति कम होने लगती है और उनके प्रति सहज उदासीनता आ जाती है। उसे उस भूमिका के योग्य अशुभ भावों को छोड़ने की प्रतिज्ञा लेने का भाव होता है और साथ ही साथ सहज ही (बिना हठ के) बाह्य आचरण में भी तदनुकूल परिवर्तन हो जाते हैं। कहा भी है -

संयम अंश जग्यौ जहाँ, भोग अरुचि परिणाम।
उदय प्रतिज्ञा कौ भयौ, प्रतिमा ताकौ नाम।।[१]

उपरोक्त साधक की अंतरंग शुद्धि व बाह्य दशा किस-किस प्रतिमा में कितनी-कितनी बढ़ती जाती है, उसी को आचार्यों ने ग्यारह दर्जों (प्रतिमाओं) में विभाजित करके समझाया है एवं अंतरंग शुद्ध दशा को ज्ञानधारा व साथ रहने वाले शुभाशुभ भावों को कर्मधारा कहा है।

साधक जीवपने स्वरूपस्थिरता की वृद्धि का पुरुषार्थ करता है। उसके अनुसार उसको वीतरागता की वृद्धि होती जाती है, साथ ही कुछ रागांश भी विद्यमान रहते हैं, तदनुकूल बाह्य क्रियायें होती हैं; उन्हें व्यवहार चारित्र कहा जाता है।

१. नाटक समयसार : पण्डित बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छंद : ५८



इसप्रकार चरणानुयोग के कथन से साधक जीव अपनी भूमिका को समझकर अपने अन्दर उठनेवाले राग यानी विकल्पों को पहिचानकर स्वरूपस्थिरता को माप लेता है। अमुक भूमिका (प्रतिमा) में जिन विकल्पों (राग भावों) का सद्भाव संभव है; उस प्रकार के राग के सद्भाव को देखकर विचलित (आशंकित) नहीं होता, वरन् उनका अभाव करने के लिए स्वरूपस्थिरता बढ़ाने का पुरुषार्थ करता रहता है; साथ ही चरणानुयोग में विहित उस भूमिका में दोष उत्पन्न करनेवाला रागांश अंतर में उठता है, उसे भी जान लेता है कि अंतरंग स्थिरता में शिथिलता आ जाने से इसप्रकार का राग उत्पन्न हुआ है। यह शिथिलताजन्य विकल्प ही उन व्रतों के अतिचार हैं। वह स्वरूपस्थिरता बढ़ाकर उन्हें दूर करने का यत्न करता है।

किसी मिथ्यादृष्टि जीव को स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान व रमणता नहीं हो और मात्र कषाय की मंदता एवं तदनुकूल बाहर की क्रियायें (हठपूर्वक) हों, यह तो संभव है; पर यह संभव नहीं कि साधक जीव को स्वरूपानंद की अनुभूति उस-उस प्रतिमा के अनुकूल हो गई हो और उसके उस-उस प्रतिमा में निषिद्ध विकल्प अंदर में उठते रहें तथा निषिद्ध बाह्य क्रियायें होती रहें। निश्चय-व्यवहार की यही संधि है।

अब प्रत्येक प्रतिमा का संक्षेप में वर्णन अपेक्षित है -

## १. दर्शन प्रतिमा

आठ मूलगुण संग्रहै, कुव्यसन क्रिया न कोइ।
दर्शन गुण निर्मल करै, दर्शन प्रतिमा सोइ।।[१]

अंतर्मुख शुद्धपरिणतिपूर्वक कषायमंदता से अष्ट मूलगुण धारण एवं सप्त व्यसन त्यागरूप भावों का सहज (हठ बिना) होना ही दर्शन प्रतिमा है। मद्य, मांस, मधु और पांच उदुम्बर[२] फल खाने का राग उत्पन्न नहीं होना अर्थात् इन वस्तुओं का त्याग करना अष्ट मूलगुण का धारण है। जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरापान, वेश्यागमन, शिकार करना, चोरी करना व परस्त्री रमणता - ये सात

१. नाटक समयसार : पण्डित बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छंद : ५९
२. बड़फल, पीपलफल, ऊमरफल, पाकरफल, कठूमरफल (गूलर)

व्यसन हैं। इनका त्याग ही सप्त व्यसन त्याग है। निरतिचार सम्यग्दर्शन का होना ही दर्शन गुण की निर्मलता है। सम्यक्त्वपूर्वक भूमिका योग्य शुद्ध परिणति निश्चय दर्शन-प्रतिमा है तथा उसके साथ सहज (हठ बिना) होने वाला कषाय-मंदतारूप भाव व बाह्याचार व्यवहार दर्शन प्रतिमा है।

आचार्य समन्तभद्र[१] के अनुसार दर्शन प्रतिमा में पाँच अणुव्रत भी आ जाते हैं। उक्त प्रकरण को पण्डित जयचंदजी छाबड़ा ने इसप्रकार स्पष्ट किया है –

''कोई ग्रंथ में ऐसे कह्या है जो पाँच अणुव्रत पालै अर मद्य, मांस, मधु इनका त्याग करै – ऐसे आठ मूलगुण हैं सो यामें विरोध नाहीं है, विवक्षा भेद है। पाँच उदुम्बर फल अर तीन मकार का त्याग कहने तैं जिन वस्तुनि में साक्षात् त्रस दीखें ते सर्व ही वस्तु भक्षण नहीं करै, देवादिक निमित्त तथा औषधादिक निमित्त इत्यादि कारणतें दीखता त्रस जीवनि का घात न करै – ऐसा आशय है सो यामें तो अहिंसाणुव्रत आया अर सात व्यसन के त्याग में झूठ का, अर चोरी का, अर परस्त्री का ग्रहण नाहीं। यामें अति लोभ का त्यागतें परिग्रह का घटावना आया – ऐसे पाँच अणुव्रत आवें हैं। इनके अतिचार टलै नाहीं तातें अणुव्रती नाम न पावै। ऐसे दर्शन प्रतिमा का धारक भी अणुव्रती है, तातैं देशविरत सागार संयमाचरण चारित्र में याकूं भी गिन्या है।[२]''

## २. व्रत प्रतिमा

पाँच अणुव्रत आदरै, तीन गुणव्रत पाल।
शिक्षाव्रत चारों धरै, यह प्रतिमा चाल।।[३]

पहली प्रतिमा में प्राप्त वीतरागता एवं शुद्धि को दूसरी प्रतिमाधारी श्रावक बढ़ाता रहता है तथा उसको निम्न कोटि के रागभाव नहीं होते, इसीलिए उनके त्याग की प्रतिज्ञा करता है। इस प्रतिमा के योग्य शुद्ध परिणति निश्चय प्रतिमा है व बारह देशव्रत के कषायमंदतारूप भाव व्यवहार प्रतिमा है।[४]

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : आचार्य समन्तभद्र, श्लोक : ६६
२. अष्टपाहुड़ टीका : पण्डित जयचंदजी, चारित्र पाहुड़, गाथा : २३
३. नाटक समयसार : पण्डित बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छंद : ६०
४. बारह व्रतों का विस्तृत विवेचन वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग ३ के पाठ ६ में किया जा चुका है।





## ३. सामायिक प्रतिमा

द्रव्य भाव विधि संजुगत, हिये प्रतिज्ञा टेक।
तजि ममता समता गहै, अन्तर्मुहूरत एक।।
जो अरि मित्र समान विचारै, आरत रौद्र कुध्यान निवारै।
संयम सहित भावना भावै, सो सामायिकवंत कहावै।।[१]

जो दूसरी प्रतिमा की अपेक्षा आत्मा में विशेष लीनता बढ़ जाने के कारण दिवस में ३ बार एक अंतर्मुहूर्त तक प्रतिज्ञापूर्वक सर्व सावद्ययोग का त्याग करके शास्त्रविहित द्रव्य व भाव सहित अपने ज्ञायकस्वभाव के आश्रयपूर्वक ममता को त्यागकर समता धारण करे अर्थात् समता का अभ्यास करे, शत्रु और मित्र दोनों को समान विचारे, आर्त व रौद्र ध्यान का अभाव करे तथा अपने परिणामों को आत्मा में संयमन करने का अभ्यास करे; वह तीसरी सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक है। इस प्रतिमाधारी श्रावक को आत्मानंद में लीनता (शुद्ध परिणति) बढ़ जाने के कारण दूसरी प्रतिमा की अपेक्षा बाह्य में आसक्ति भाव कम हो जाते हैं।

मात्र अंतर्मुहूर्त एकांत में बैठकर पाठ पढ़ लेने आदि से सामायिक नहीं हो जाती है वरन् ऊपर लिखे अनुसार ज्ञायक स्वभाव की रुचि एवं लीनतापूर्वक साम्यभाव का अभ्यास करना ही सच्ची सामायिक है।

## ४. प्रोषधोपवास प्रतिमा

प्रथमहिं सामायिक दशा, चार पहरलौ होय।
अथवा आठ पहर रहे, प्रोषध प्रतिमा सोय।।[२]

जब सामायिक की दशा कम से कम ४ प्रहर तक अर्थात् १२ घंटे तक तथा विशेष में ८ प्रहर अर्थात् २४ घंटे तक रहे, उसको प्रोषध प्रतिमा कहते हैं। प्रोषध प्रतिमाधारी श्रावक ज्ञायकस्वभाव में श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक लीनता पूर्वपिक्षा बढ़ जाने से कम से कम मास में ४ बार हर अष्टमी व चतुर्दशी को आहार आदि सर्व सावद्ययोग का त्याग करता है। उसे संसार, शरीर और भोगों से आसक्ति घट जाती है, अतः आहार आदि का त्याग करके उपवास करके उपवास की प्रतिज्ञा लेता है; वह प्रोषध प्रतिमाधारी श्रावक है।

१. नाटक समयसार : पण्डित बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छंद : ६१-६२
२. वही, छंद : ६३

मास में ४ बार उपवास कर लेने मात्र से ही चौथी प्रतिमाधारी श्रावक नहीं हो जाता तथा केवल भोजन नहीं करने का नाम उपवास नहीं है। क्योंकि –

कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः।।

जहाँ कषाय, विषय, आहार तीनों का त्याग हो वह उपवास है, शेष सब लंघन है।[१]

## ५. सचित्तत्याग प्रतिमा

जो सचित्त भोजन तजै, पीवै प्रासुक नीर।
सो सचित्त त्यागी पुरुष, पंच प्रतिज्ञा गीर।।[२]

पाँचवीं प्रतिमावाले साधक आत्मलीनता चौथी प्रतिमा से भी अधिक होती है, अतः आसक्तिभाव भी कम हो जाता है। शरीर की स्थिति के लिए भोजन तो लेने का भाव आता है, लेकिन सचित्त भोजनपान करने का विकल्प नहीं उठता; अतः यह सचित्त भोजन त्याग कर देता है और प्रासुक पानी काम में लेता है। पाँचवीं प्रतिमाधारी श्रावक की जो आंतरिक शुद्धि है, वह निश्चय प्रतिमा है और मंद कषायरूप शुभ भाव तथा सचित्त भोजन-पान का त्याग व्यवहार प्रतिमा है।

जिसमें उगने की योग्यता हो – ऐसे अन्न एवं हरी वनस्पति को सचित्त कहते हैं।[३]

## ६. दिवामैथुनत्याग प्रतिमा

जो दिन ब्रह्मचर्य व्रत पालै, तिथि आये निशिदिवस संभालै।
गहि नव वाड़[४] करै व्रत रक्षा, सो षट् प्रतिमा श्रावक अख्या।।[५]

१. मोक्षमार्गप्रकाशक : पण्डित टोडरमल, पृष्ठ : २३१
२. नाटक समयसार : पण्डित बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छंद : ६४
३. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : आचार्य समन्तभद्र, श्लोक : १४१
४. नव वाड़ – १) स्त्रियों के समागम में न रहना, २) रागभरी दृष्टि से न देखना, ३) परोक्ष में (छुपाकर) संभाषण, पत्राचार आदि न करना, ४) पूर्व में भोगे भोगों का स्मरण नहीं करना, ५) कामोत्पादक गरिष्ठ भोजन नहीं करना, ६) कामोत्मादक श्रृंगार नहीं करना, ७) स्त्रियों के आसन, पलंग आदि पर नहीं सोना, न बैठना, ८) कामोत्पादक कथा, गीत आदि नहीं सुनना, ९) भूख से अधिक भोजन नहीं करना।
५. नाटक समयसार : पण्डित बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छंद : ६५





इस प्रतिमा के योग्य यथोचित्त शुद्धि, वह निश्चय प्रतिमा है तथा त्यागरूप शुभभाव वह व्यवहार प्रतिमा है। साधक जीव ने दूसरी प्रतिमा में स्वस्त्री संतोषव्रत तो लिया था, लेकिन अब स्वरूपस्थिरता उसकी अपेक्षा बढ़ जाने से आसक्ति भी घट गई है, अतः छठवीं प्रतिमाधारी श्रावक नव वाड़ सहित हमेशा दिवस के समय एवं अष्टमी, चतुर्दशी आदि तिथि पर्व के दिन रात में भी ब्रह्मचर्य व्रत को पालता है और ऐसे अशुभ भाव नहीं उठने देने के प्रतिज्ञा करता है। आचार्य समन्तभद्र ने छठवीं प्रतिमा को रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा भी कहा है।[१] वैसे तो रात्रि भोजन का साधारण श्रावक को ही त्याग होता है; लेकिन इस प्रतिमा में कृत, कारित व अनुमोदनापूर्वक सभी प्रकार के आहारों का त्याग हो जाता है।

## ७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा

जो नव वाड़ि सहित विधि साधै, निशदिन ब्रह्मचर्य आराधे।
सो सप्तम प्रतिमाधर ज्ञाता, शील शिरोमणि जगत विख्याता।।[२]

सातवीं प्रतिमाधारी श्रावक की स्वरूपानंद में विशेष लीनता (शुद्ध परिणति) बढ़ जाने से आसक्ति भाव और भी घट जाता है, अतः हमेशा के लिए दिन-रात में अर्थात् पूर्ण रूप से नव वाड़ सहित ब्रह्मचर्य व्रत पालता है और उपरोक्त प्रकार के भाव नहीं होने देने की प्रतिज्ञा लेता है, अतः उसकी प्रवृत्ति भी तदनुकूल ही होती है। ऐसे श्रावक को शील शिरोमणि कहा जाता है।

## ८. आरम्भत्याग प्रतिमा

जो विवेक विधि आदरै, करै न पापारम्भ।
सो अष्टम प्रतिमा धनी, कुगति विजय रणथम्भ।।[३]

आठवीं प्रतिमाधारी श्रावक की यथोचित शुद्धि निश्चय प्रतिमा है। संसार, देह, भोगों के प्रति उदासीनता व राग अल्प हो जाने के कारण उठनेवाले विकल्प भी मर्यादित हो जाते हैं व बाह्यारंभ का त्याग व्यवहार प्रतिमा है। आठवीं प्रतिमाधारी श्रावक स्वरूपस्थिरतारूप धर्माचरण में विशेष सावधानी रखता हुआ असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि पापारंभ करने के विकल्पों का त्याग कर देने से सभी प्रकार के व्यापार का त्याग कर देता है।

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : आचार्य समन्तभद्र, श्लोक : १४२
२. नाटक समयसार : पण्डित बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छंद : ६६
३. वही, छंद : ६८

## ९. परिग्रहत्याग प्रतिमा

जो दशधा परिग्रह कौ त्यागी, सुख संतोष सहित वैरागी।
समरस संचित किंचित ग्राही, सो श्रावक नौ प्रतिमावाही।।[१]

नवमीं प्रतिमाधारी श्रावक की शुद्धि और भी बढ़ जाती है, वह निश्चय परिग्रहत्याग प्रतिमा है। उसके साथ कषाय मंद हो जाने से अति आवश्यक सीमित वस्तुएँ रखकर बाकी सभी (दस) प्रकार के परिग्रहत्याग करने का शुभ भाव व बाह्य परिग्रहत्याग, व्यवहार परिग्रहत्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमाधारी का जीवन वैराग्यमय, संतोषी एवं साम्यभावधारी हो जाता है।

## १०. अनुमतित्याग प्रतिमा

पर कौं पापारम्भ को, जो न देइ उपदेश।
सो दशमी प्रतिमा सहित श्रावक विगत कलेश।।[२]

इस दसवीं प्रतिमाधारी श्रावक की शुद्धि पहले से भी बढ़ गई है, वह शुद्ध परिणति निश्चय प्रतिमा है। उसकी सहज (बिना हठ के) उदासीनता अर्थात् राग की मंदता इतनी बढ़ गई होती है कि अपने कुटुम्बीजनों एवं हितैषियों को भी किसी प्रकार के आरम्भ (व्यापार, शादी, विवाह आदि) के सम्बन्ध में सलाह, मशविरा, अनुमति आदि नहीं देता है – यह व्यवहार प्रतिमा है। इस श्रावक को उत्तम श्रावक कहा गया है।

## ११. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा

जो सुछंद वरते तज डेरा, मठ मंडप में करै बसेरा।
उचित आहार उदंड विहारी, सो एकादश प्रतिमाधारी।।[३]

ग्यारहवीं प्रतिमा श्रावक का सर्वोत्कृष्ट अंतिम दर्जा है। ये श्रावक दो प्रकार के होते हैं – क्षुल्लक तथा ऐलक। इस प्रतिमा की उत्कृष्ट दशा ऐलक होती है। इसके आगे मुनिदशा हो जाती है।

१. नाटक समयसार : पण्डित बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छंद : ६९
२. वही, छंद : ७०
३. वही, छंद : ७१



इस प्रतिमावाले श्रावक की परिणति में वीतरागता बहुत बढ़ गई होती है व निर्विकल्प दशा भी जल्दी-जल्दी आती है और अधिक काल ठहरती है। उनकी यह अंतरंग शुद्ध परिणति निश्चय उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है तथा इसके साथ होने वाले कषाय मंदतारूप बहिर्मुख शुभ भाव व तदनुसार बाह्य क्रिया व्यवहार उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है।

ऐसी दशा में पहुँचनेवाले श्रावक की संसार, देह आदि से उदासीनता बढ़ जाती है। इस प्रतिमा के धारक श्रावक मुनि के समान नवकोटिपूर्वक उद्दिष्ट आहार[१] के त्यागी व घर-कुटुम्ब आदि से अलग होकर स्वच्छन्द विहारी होते हैं।

ऐलक दशा में मात्र लंगोटी एवं पिच्छि-कमण्डलु के अतिरिक्त बाह्य परिग्रह का त्याग हो जाता है। क्षुल्लक दशा में अनासक्ति भाव ऐलक के बराबर नहीं हो पाते, अत: उनकी आहार-विहार की क्रियाएँ ऐलक के समान होने पर भी लंगोटी के अलावा ओढ़ने के लिए खण्ड-वस्त्र (चादर) तथा पिच्छि के स्थान पर वस्त्र रखने का एवं केशलोंच के बजाय हजामत बनाने का तथा पात्र में भोजन करने का राग रह जाता है।

इस प्रतिमा के धारक श्रावक नियम से गृहविरत ही होते हैं।[२]

जिस प्रकार मुनि को अंतर्मुहूर्त के अंदर-अंदर निर्विकल्प आनंद का अनुभव तथा निरंतर वीतरागता वर्तती रहती है, वह भावलिंग है और उसके साथ होनेवाला २८ मूलगुण आदि का शुभ विकल्प द्रव्यलिंग है और तदनुकूल क्रिया को भी द्रव्यलिंग कहा जाता है; उसीप्रकार पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक की जिसमें कभी-कभी स्वरूपानंद का निर्विकल्प अनुभव हो जाता है – ऐसी निरंतर वर्तती हुई यथोचित वीतरागता, वह भाव प्रतिमा अर्थात् निश्चय प्रतिमा है एवं तद्-तद् प्रतिमा के अनुकूल शास्त्र विहित कषाय मंदतारूप भाव द्रव्य

१. मुनि, ऐलक व क्षुल्लक के निमित्त बनाई गई वस्तुएँ उद्दिष्ट की श्रेणी में आती हैं। वैसे उद्दिष्ट का शाब्दिक अर्थ उद्देश्य होता है।
२. सातवीं प्रतिमा से दसवीं प्रतिमाधारी श्रावक गृहविरत व गृहनिरत दोनों प्रकार के होते हैं।

प्रतिमा अर्थात् व्यवहार प्रतिमा है। तदनुकूल बाहर की क्रियाओं का व्यवहार प्रतिमा के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से उन क्रियाओं को भी व्यवहार प्रतिमा कहा जाता है। जिस जीव को अकेली द्रव्य प्रतिमा हो और उसको वह सच्ची प्रतिमारूप चारित्र दशा मानता हो तो उसको विपरीत मान्यता के कारण मिथ्यात्व का बंध होगा, मिथ्यात्व के बंध के साथ कषाय की मंदता के अनुसार पुण्यबंध जरूर होगा, उससे स्वर्गादिक की प्राप्ति भी होगी; किन्तु वह संसार का अंत नहीं ला सकता।

पंचम गुणस्थान में ११ प्रतिमाएँ ग्रहण करने का उपदेश है सो आरंभ से उत्तरोत्तर अंगीकार करनी चाहिए। नीचे की प्रतिमाओं की दशा जो ग्रहण की थी; वह आगे की प्रतिमाओं में छूटती नहीं है, वृद्धि को ही प्राप्त होती है। पहले से छठवीं प्रतिमा तक धारण करने वाले जघन्य व्रती श्रावक, सातवीं से नौवीं प्रतिमा तक धारण करने वाले मध्यम व्रती श्रावक एवं दसवीं व ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट व्रती श्रावक कहलाते हैं।

---

**प्रश्न –**

१. निम्नलिखित की परिभाषा लिखिए –

प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, दर्शन प्रतिमा, उद्दिष्टत्याग प्रतिमा व अनुमतित्याग प्रतिमा।

२. निम्नलिखित में परस्पर अन्तर स्पष्ट कीजिए –

(क) निश्चय प्रतिमा और व्यवहार प्रतिमा

(ख) ब्रह्मचर्याणुव्रत और ब्रह्मचर्य प्रतिमा

(ग) क्षुल्लक और ऐलक

(घ) परिग्रहत्याग व्रत और परिग्रहत्याग प्रतिमा

## पाठ ५

# सुख क्या है ?

यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि सभी जीव सुख चाहते हैं और दु:ख से डरते हैं। पर प्रश्न तो यह है कि वास्तविक सुख है क्या ? वस्तुत: सुख कहते किसे हैं ? सुख का वास्तविक स्वरूप समझे बिना मात्र सुख चाहने का कोई अर्थ नहीं।

प्राय: सामान्य जन भोग-सामग्री को सुख-सामग्री मानते हैं और उसकी प्राप्ति को सुख की प्राप्ति समझते हैं, अत: उनका प्रयत्न भी उसी ओर रहता है। उनकी दृष्टि में सुख कैसे प्राप्त किया जाय का अर्थ होता है 'भोग-सामग्री कैसे प्राप्त की जावे ?' उनके हृदय में 'सुख क्या है ?' इस तरह का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उनका अंतर्मन यह माने बैठा है कि भोगमय जीवन ही सुखमय जीवन है।

अत: जब-जब सुख-समृद्धि की चर्चा आती है तो यही कहा जाता है कि प्रेम से रहो, मेहनत करो, अधिक अन्न उपजाओ, औद्योगिक और वैज्ञानिक उन्नति करो – इससे देश में समृद्धि आवेगी और सभी सुखी हो जावेंगे। आदर्शमय बातें कही जाती हैं कि एक दिन वह होगा जब प्रत्येक मानव के पास खाने के लिए पौष्टिक भोजन, पहिनने को ऋतुओं के अनुकूल उत्तम वस्त्र और रहने को वैज्ञानिक सुविधाओं से युक्त आधुनिक बंगला होगा; तब सभी सुखी हो जावेंगे।

हम इस पर बहस नहीं करना चाहते हैं कि यह सब कुछ होगा या नहीं, पर हमारा प्रश्न तो यह है कि यह सब कुछ हो जाने पर भी क्या जीवन सुखी हो जावेगा ? यदि हाँ, तो जिनके पास यह सब कुछ है, वे तो आज भी सुखी होंगे ? या जो देश इस समृद्धि की सीमा छू रहे हैं, वहाँ तो सभी सुखी और शांत होंगे ? पर देखा यह जा रहा है कि सभी आकुल-व्याकुल और अशांत हैं, भयाकुल और चिंतातुर हैं; अत: 'सुख क्या है ?' इस विषय पर गंभीरता से सोचा जाना चाहिए। 'वास्तविक सुख क्या है और वह कहाँ है ?' इसका निर्णय किये बिना इस दिशा में सच्चा पुरुषार्थ नहीं किया जा सकता और न ही सच्चा सुख प्राप्त किया जा सकता है।

कुछ मनीषी इससे आगे बढ़ते हैं और कहते हैं – ''भाई ! वस्तु (भोग सामग्री) में सुख नहीं है, सुख-दु:ख तो कल्पना में है। वे अपनी बात सिद्ध करने को उदाहरण भी देते हैं कि एक आदमी का मकान दो मंजिल का है, पर उसके दाहिनी ओर पाँच मंजिला मकान है तथा बायीं ओर एक झोंपड़ी है। जब वह दायीं ओर देखता है तो अपने को दु:खी अनुभव करता है और जब बायीं ओर देखता है तो सुखी; अत: सुख-दु:ख भोग-सामग्री में न होकर कल्पना में है। वे मनीषी सलाह देते हैं कि यदि सुखी होना है तो अपने से कम भोग-सामग्री वालों की ओर देखो, सुखी हो जाओगे। यदि तुम्हारी दृष्टि अपने से अधिक वैभववालों की ओर रही तो सदा दु:ख का अनुभव करोगे।''

सुख तो कल्पना में है, सुख पाना हो तो झोंपड़ी की तरफ देखो, अपने से दीन-हीनों की तरफ देखो, यह कहना असंगत है; क्योंकि दुखियों को देखकर तो लौकिक सज्जन भी दयार्द्र हो जाते हैं। दुखियों को देखकर ऐसी कल्पना करके अपने को सुखी मानना कि मैं इनसे अच्छा हूँ, उनके दु:ख के प्रति अकरुण भाव तो है ही, साथ ही मान कषाय की पुष्टि में संतुष्टि की स्थिति भी है। इसे सुख कभी नहीं कहा जा सकता। सुख क्या झोंपड़ी में भरा है, जो उसकी ओर देखने से आ जावेगा ? जहाँ सुख है, जब तक उसकी ओर दृष्टि नहीं जावेगी, तब तक सच्चा सुख प्राप्त नहीं होगा।

सुखी होने का यह उपाय भी सही नहीं है, क्योंकि यहाँ 'सुख क्या है ?' इसे समझने का यत्न नहीं किया गया है, वरन् भोगजनित सुख को ही सुख मानकर सोचा गया है। 'सुख कहाँ है ?' का उत्तर 'कल्पना में है' दिया गया है। 'सुख कल्पना में है' का अर्थ यदि यह लिया जाय कि सुख काल्पनिक है, वास्तविक नहीं, तो क्या यह माना जाय कि सुख की वास्तविक सत्ता है ही नहीं, पर यह बात संभवत: आपको स्वीकृत नहीं होगी। अत: स्पष्ट है कि भोग-प्राप्तिवाला सुख, जिसे इन्द्रिय-सुख कहते हैं, काल्पनिक है; तथा वास्तविक सुख इससे भिन्न है। वह सच्चा सुख क्या है ? मूल प्रश्न तो यह है।

कुछ लोग कहते हैं कि तुम यह करो, वह करो, तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी, तुम्हें इच्छित वस्तु की प्राप्ति होगी और तुम सुखी हो जाओगे। ऐसा कहनेवाले इच्छाओं की पूर्ति को ही सुख और इच्छाओं की पूर्ति न होने को ही दु:ख मानते हैं।

एक तो इच्छाओं की पूर्ति संभव ही नहीं है, कारण की अनंत जीवों में प्रत्येक





की इच्छाएँ अनंत हैं और भोग सामग्री है सीमित तथा एक इच्छा की पूर्ति होते ही तत्काल दूसरी नई-नई इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इसप्रकार कभी समाप्त न होनेवाला इच्छाओं का प्रपातवत् प्रवाहक्रम चलता ही रहता है। अत: यह तो निश्चित है कि नित्य बदलती हुई नवीन इच्छाओं की पूर्ति कभी संभव नहीं है। अत: तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी, इच्छाएँ पूर्ण होगी और तुम सुखी हो जाओगे; ऐसी कल्पनाएँ मात्र मृग-मरीचिका ही सिद्ध होती हैं। न तो कभी संपूर्ण इच्छाएँ पूर्ण होनेवाली हैं और न ही जीव इच्छाओं की पूर्ति से सुखी होनेवाला है।

वस्तुत: तो इच्छाओं की पूर्ति में सुख है ही नहीं, यह तो सिर का बोझ कंधे पर रखकर सुख मानने जैसा है। यदि कोई कहे जितनी इच्छाएँ पूर्ण होंगी, उतना तो सुख होगा ही, पूरा न सही – यह बात भी ठीक नहीं है; कारण कि सच्चा सुख तो इच्छाओं के अभाव में है, इच्छाओं की पूर्ति में नहीं; क्योंकि हम इच्छाओं की कमी (आंशिक अभाव) में आकुलता की कमी प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। अत: यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इच्छाओं के पूर्ण अभाव में पूर्ण सुख होगा ही, यदि यह कहा जाय कि इच्छा पूर्ण होने पर समाप्त हो जाती है, अत: उसे सुख कहना चाहिए – यह कहना भी गलत है; क्योंकि इच्छाओं के अभाव का अर्थ इच्छाओं की पूर्ति होना नहीं, वरन् इच्छाओं का उत्पन्न ही नहीं होना है।

भोग-सामग्री से प्राप्त होनेवाला सुख वास्तविक सुख है ही नहीं, वह तो दु:ख का ही तारतम्यरूप भेद है। आकुलतामय होने से वह दु:ख ही है। सुख का स्वभाव तो निराकुलता है और इन्द्रियसुख में निराकुलता पाई नहीं जाती है। जो इंद्रियों द्वारा भोगने में आता है वह विषय सुख है। वह वस्तुत: दु:ख का ही एक भेद है। उसका तो मात्र नाम ही सुख है। अतींद्रिय आनंद इंद्रियातीत होने से उसे इंद्रियों द्वारा नहीं भोगा जा सकता। जैसे आत्मा अतींद्रिय होने से इंद्रियों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसीप्रकार अतींद्रिय सुख आत्मामय होने से इंद्रियों के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।

जो वस्तु जहाँ होती है, उसे वहाँ ही पाया जा सकता है। जो वस्तु जहाँ हो ही नहीं, जिसकी सत्ता की जहाँ संभावना ही न हो, उसे वहाँ कैसे पाया जा सकता है? जैसे 'ज्ञान' आत्मा का एक गुण है, अत: ज्ञान की प्राप्ति चेतनात्मा में ही संभव है, जड़ में नहीं; उसीप्रकार 'सुख' भी आत्मा का एक गुण है, जड़ का नहीं। अत: सुख की प्राप्ति आत्मा में ही होगी, शरीरादि जड़ पदार्थों में नहीं। जिसप्रकार यह

आत्मा स्वयं को न जानकर अज्ञान (मिथ्याज्ञान) रूप परिणमित हो रहा है; उसीप्रकार यह जीव स्वयं सुख की आशा से पर-पदार्थों की ओर ही प्रयत्नशील है व यही इसके दु:ख का मूल कारण है। इसकी सुख की खोज की दिशा ही गलत है। दिशा गलत है, अत: दशा भी गलत (दु:खरूप) ही होगी। सच्चा सुख पाने के लिए हमें परोन्मुखी दृष्टि छोड़कर स्वयं को (आत्मा को) देखना होगा, स्वयं को जानना होगा, क्योंकि अपना सुख अपनी आत्मा में है। आत्मा अनंत आनंद का कंद है, आनंदमय है; अत: सुख चाहनेवालों को आत्मोन्मुखी होना चाहिए। परोन्मुखी दृष्टिवाले को सच्चा सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता।

सच्चा सुख तो आत्मा द्वारा अनुभव की वस्तु है; कहने की नहीं, दिखाने की भी नहीं। समस्त पर-पदार्थों से दृष्टि हटाकर अंतर्मुख होकर अपने ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा में तन्मय होने पर ही वह प्राप्त किया जा सकता है। चूंकि आत्मा सुखमय है, अत: आत्मानुभूति ही सुखानुभूति है। जिसप्रकार बिना अनुभूति के आत्मा प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसीप्रकार बिना आत्मानुभूति के सच्चा सुख भी प्राप्त नहीं किया जा सकता।

गहराई से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि आत्मा को सुख कहीं से प्राप्त नहीं करना है; क्योंकि वह सुख से ही बना है, सुखमय ही है, सुख ही है। जो स्वयं सुखस्वरूप हो, उसे सुख क्या पाना ? सुख पाने की नहीं, भोगने की वस्तु है, अनुभव करने की चीज है। सुख के लिए तड़पना क्या ? सुख में तड़पन नहीं, तड़पन में सुख का अभाव है, तड़पन स्वयं दु:ख है; तड़पन का अभाव ही सुख है। इसीप्रकार सुख को क्या चाहना ? चाह स्वयं दु:खरूप है; चाह का अभाव ही सुख है।

'सुख क्या है ?', 'सुख कहाँ है ?', 'वह कैसे प्राप्त होगा ?' – इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर है, एक ही समाधान है और वह है आत्मानुभूति। उस आत्मानुभूति को प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय तत्त्वविचार है। पर ध्यान रहे वह आत्मानुभूति अपनी प्रारम्भिक भूमिका-तत्त्वविचार का भी अभाव करके उत्पन्न होती है। 'मैं कौन हूँ ?' 'आत्मा क्या है ?' और 'आत्मानुभूति कैसे प्राप्त होती है ?' ये पृथक् विषय हैं; अत: इन पर पृथक् से विवेचन अपेक्षित है।

# पाठ ६ | पंच भाव

## आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी

(व्यक्तित्व एवं कर्त्तृत्व)

**तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।**
**वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामीमुनीश्वरम्॥**

कम से कम लिखकर अधिक से अधिक प्रसिद्धि पानेवाले आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र से जैनसमाज जितना अधिक परिचित है, उनके जीवन-परिचय के संबंध में उतना ही अपरिचित है।

ये कुन्दकुन्दाचार्य के पट्ट शिष्य थे तथा विक्रम की प्रथम शताब्दी के अन्तिम काल में तथा द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत-भूमि को पवित्र कर रहे थे।

आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी उन गौरवशाली आचार्यों में हैं, जिन्हें समग्र आचार्य परम्परा में पूर्ण प्रामाणिकता और सम्मान प्राप्त है। जो महत्त्व वैदिकों में गीता का, ईसाइयों में बाइबिल का और मुसलमानों में कुरान का माना जाता है, वही महत्त्व जैन परम्परा में गृद्धपिच्छ उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र को प्राप्त है। इसका दूसरा नाम मोक्षशास्त्र भी है। यह संस्कृत भाषा का सर्वप्रथम जैन ग्रन्थ है।

इस महान ग्रन्थ पर दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में संस्कृत व हिन्दी आदि अनेक भाषाओं में टीकाएँ व भाष्य लिखे गये हैं। दिगम्बर परम्परा में संस्कृत भाषा में पूज्यपाद आचार्य देवनन्दि की सर्वार्थसिद्धि, अकलंकदेव का तत्त्वार्थ राजवार्तिक और विद्यानन्दि का तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक

सर्वाधिक प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। आचार्य समन्तभद्र ने इसी ग्रंथराज पर गंधहस्ति महाभाष्य नामक महाग्रंथ लिखा था, जो कि अप्राप्त है, पर तत्संबंधी उल्लेख प्राप्त हैं। श्रुतसागर सूरि की भी एक टीका संस्कृत भाषा में प्राप्त है।

हिंदी भाषा के प्राचीन विद्वानों में पण्डित सदासुखदासजी कासलीवाल की अर्थप्रकाशिका टीका प्रसिद्ध है। आधुनिक विद्वानों में पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्ताचार्य, पण्डित कैलाशचन्दजी सिद्धान्ताचार्य, पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य आदि अनेक विद्वानों द्वारा लिखी गई टीकाएँ उपलब्ध हैं। श्री रामजीभाई माणेकचन्द दोशी, सोनगढ़ द्वारा लिखित ८१० पृष्ठों की एक विशाल टीका भी है।

यह ग्रन्थराज जैन समाज द्वारा संचालित सभी परीक्षा बोर्डों के पाठ्यक्रमों में निर्धारित है और सारे भारतवर्ष के जैन विद्यालयों में पढ़ाया जाता है।

प्रस्तुत पाठ तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय के आधार पर लिखा गया है।

---



# पंच भाव

**प्रवचनकार** – यह 'तत्त्वार्थसूत्र' अपरनाम 'मोक्षशास्त्र' नामक महाशास्त्र है। इसका दूसरा अध्याय चलता है। यहाँ जीव के असाधारण भावों का प्रकरण चल रहा है। आत्मा का हित चाहनेवालों को आत्म-भावों की पहिचान ठीक तरह से करना चाहिये, क्योंकि आत्मा को पहिचाने बिना अनात्मा को भी नहीं पहिचाना जा सकता है और जो आत्मा-अनात्मा दोनों को नहीं जानता, उसका हित कैसे संभव है?

जीव के असाधारण भाव कितने व कौन-कौन हैं? – इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य उमास्वामी लिखते हैं –

**'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च।'**[1]

औपशमिक, क्षायिक, मिश्र (क्षायोपशमिक), औदयिक और पारिणामिक – ये जीव के पाँच असाधारण भाव व निजतत्त्व हैं। जीव के सिवाय किसी अन्य द्रव्य में नहीं पाये जाते हैं।

इन भावों का विशेष विश्लेषण आचार्य अमृतचंद्र ने 'पंचास्तिकाय संग्रह' की ५६ वीं गाथा की टीका में इसप्रकार किया है –

**''कर्मों का फलदानसामर्थ्यरूप से उद्भव सो 'उदय' है, अनुद्भव सो 'उपशम' है, उद्भव तथा अनुद्भव सो 'क्षयोपशम' है, अत्यन्त विश्लेष (वियोग) सो 'क्षय' है। द्रव्य का आत्मलाभ (अस्तित्व) जिसका हेतु है वह 'परिणाम' है।** वहाँ उदय से युक्त वह 'औदयिक' है, उपशम से युक्त वह 'औपशमिक' है, क्षयोपशम से युक्त वह 'क्षायोपशमिक' है, क्षय से युक्त वह 'क्षायिक' है, परिणाम से युक्त वह 'पारिणामिक है।''

कर्मोपाधि की चार प्रकार की दशा जिनका निमित्त है – ऐसे चार (उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय) भाव हैं। जिसमें कर्मोपाधिरूप निमित्त बिलकुल नहीं है, मात्र द्रव्यस्वभाव ही जिसका कारण है – ऐसा एक पारिणामिक भाव है।

**जिज्ञासु** – अभी पूरी तरह से समझ में नहीं आया, कृपया विस्तार से समझाइये न ?

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय : २, सूत्र : १

**प्रवचनकार** – सुनो ! मैं इन्हें पृथक्-पृथक् समझाता हूँ। समझने का यत्न करो, अवश्य समझ में आयेगा।

## १. औपशमिक भाव

(आत्मा की मुख्यता से) **आत्मा के स्वसन्मुख पुरुषार्थरूप शुद्ध परिणाम से जीव के श्रद्धा तथा चारित्र सम्बन्धी भावमल दब जाने रूप उपशामक भाव होता है, उसको औपशमिक भाव कहते हैं** और उसी समय दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय कर्म का भी स्वयं फलदान-समर्थरूप से अनुद्भव होता है, उसको कर्म का उपशम कहते हैं।

(कर्म की मुख्यता से) **दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्म फलदानसमर्थरूप से अनुद्भव होना, वह कर्म का उपशम है और ऐसे उपशम से युक्त जीव का भाव, वह औपशमिक भाव है।**

## २. क्षायिक भाव

**आत्मा के स्वसन्मुख पुरुषार्थ से किसी गुण की अवस्था में अशुद्धता का सर्वथा क्षय होना अर्थात् पूर्ण शुद्ध अवस्था का प्रगट होना, सो क्षायिक भाव है।** उस ही समय स्वयं कर्मावरण का सर्वथा नाश होना सो कर्म का क्षय है।

## ३. क्षायोपशमिक भाव

(आत्मा की मुख्यता से) **धर्मी जीव को स्वसन्मुख पुरुषार्थ से श्रद्धा और चारित्र की आंशिक शुद्ध अवस्था होती है, उसको जीव के श्रद्धा और चारित्र की अपेक्षा से क्षायोपशमिक भाव कहने में आता है** और उसी समय दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय कर्मों का स्वयं फलदानसमर्थरूप से उद्भव और अनुद्भव होता है, उसको उस कर्म का क्षयोपशम कहते हैं।

(कर्म की मुख्यता से) **दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मों का फलदानसमर्थरूप से उद्भव तथा अनुद्भव होता है, उसको उस कर्म का क्षयोपशम कहते हैं और उससे युक्त जीव की श्रद्धा और चारित्र सम्बन्धी अवस्था होती है, उसको जीव की श्रद्धा और चारित्र सम्बन्धी अवस्था होती है, उसको जीव के श्रद्धा और चारित्र का क्षायोपशमिक भाव कहने में आता है।**[1]

१. पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा : ५६





आत्मा के ज्ञान, दर्शन और वीर्य आदि के आंशिक विकास तथा आंशिक अविकास को ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि का क्षायोशमिक भाव समझ लेना चाहिए। ये सभी छद्मस्थ जीवों के होते हैं।

## ४. औदयिक भाव

**कर्मों के उदयकाल में आत्मा में विभावरूप परिणमन का होना औदयिक भाव है।**

## ५. पारिणामिक भाव

**सहज स्वभाव, उत्पाद-व्यय निरपेक्ष, ध्रुव, एकरूप रहनेवाला भाव पारिणामिक भाव है।**

इन भावों के क्रमश: दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद होते हैं।[1]

औपशमिक भाव के औपशमिक सम्यक्त्व व औपशमिक चारित्र ये दो भेद हैं।[2]

क्षायिक भाव के केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र – इसप्रकार ९ भेद हैं।[3]

मिश्र (क्षायोपशमिक) भाव के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान ये चार ज्ञान; कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन अज्ञान; चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन ये तीन दर्शन; क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य ये पाँच लब्धियाँ; क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयम – इसप्रकार कुल १८ भेद होते हैं।[4]

औदयिक भाव के २१ भेद हैं – नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव ये चार गति; क्रोध, मान, माया, लोभ – ये चार कषाय; स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद ये तीन वेद; कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल ये छह लेश्याएँ; मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम तथा असिद्धत्व भाव।[5]

१. द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय : २, सूत्र : २

२. सम्यक्त्वचारित्रे : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय : २, सूत्र : ३

३. ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय : २, सूत्र : ४

४. ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदा: सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय : २, सूत्र : ५

५. गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड् भेदा: : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय : २, सूत्र : ६

पारिणामिक भाव के ३ भेद होते हैं – जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व।[1]

इसप्रकार कुल मिलाकर जीव के असाधारण भावों के ५३ भेद होते हैं।

**जिज्ञासु** – इनके जानने से क्या लाभ है व इनसे क्या सिद्ध होता है ?

**प्रवचनकार** – १. पारिणामिक भाव से यह सिद्ध होता है कि जीव अनादि-अनन्त, एक, शुद्ध, चैतन्यस्वभावी है।

२. औदयिक भाव का स्वरूप जानने से यह पता चलता है कि जीव अनादि-अनन्त, शुद्ध, चैतन्यस्वभावी होने पर भी उसकी अवस्था में विकार है, जड़ कर्म के साथ उसका अनादिकालीन सम्बन्ध है तथा जब तक यह जीव अपने ज्ञातास्वभाव को स्वयं छोड़कर जड़ कर्म की ओर झुकाव करता है, तब तक विकार उत्पन्न होता रहता है; कर्म के कारण विकार नहीं होता है।

३. क्षायोपशमिक भाव से यह पता चलता है कि जीव अनादि काल से विकार करता हुआ भी जड़ नहीं हो जाता। उसके ज्ञान, दर्शन, वीर्य का आंशिक विकास सदा बना रहता है एवं सच्ची समझ के बाद वह जैसे-जैसे सत्य पुरुषार्थ को बढ़ाता है; वैसे-वैसे मोह अंशत: दूर होता जाता है।

४. आत्मा का स्वरूप यथार्थतया समझकर जब जीव अपने पारिणामिक भाव का आश्रय लेता है, तब औदयिक भाव का दूर होना प्रारम्भ होता है और सर्वप्रथम श्रद्धा गुण का औदयिक भाव दूर होता है – यह औपशमिक भाव बतलाता है।

५. अप्रतिहत पुरुषार्थ से पारिणामिक भाव का अच्छी तरह आश्रय बढ़ाने पर विकार का नाश होता है – ऐसा क्षायिकभाव सिद्ध करता है।

**जिज्ञासु** – क्या ये पाँचों भाव सभी जीवों के सदा पाये जाते हैं ?

**प्रवचनकार** – एक पारिणामिक भाव ही ऐसा है, जो सब जीवों के सदाकाल पाया जाता है। औदयिक भाव समस्त संसारी जीवों के तो पाया जाता है; किन्तु मुक्त जीवों के नहीं। इसीप्रकार क्षायोपशमिक भाव भी मुक्त जीवों के तो होता ही नहीं; किन्तु संसारी जीवों में भी तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवालों के नहीं होता।

**जिज्ञासु** – क्षायिक भाव तो मुक्त जीवों के पाया जाता है ?

१. जीवभव्याभव्यत्वानि च : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय : २, सूत्र : ७





**प्रवचनकार** – हाँ ! मुक्त जीवों के तो क्षायिक भाव पाया जाता है, किन्तु समस्त संसारी जीवों के नहीं। अभव्यों और मिथ्यादृष्टियों के तो क्षायिक भाव होने का प्रश्न ही नहीं। सम्यक्त्वी और चारित्रवंतों में भी क्षायिक सम्यक्त्व व क्षायिक चारित्रवान जीवों तथा अरहंतों के ही पाया जाता है।

औपशमिक भाव सिर्फ औपशमिक सम्यक्त्व व औपशमिक चारित्रवंतों के ही होता है।

इस तरह हम देखते हैं कि –

१. सबसे कम संख्या औपशमिक भाववालों की है, क्योंकि इसमें औपशमिक सम्यक्त्व तथा औपशमिक चारित्रवंत जीवों का ही समावेश हुआ है।

२. औपशमिक भाववालों से अधिक संख्या क्षायिक भाववाले जीवों की है, क्योंकि इसमें क्षायिक समकिती, क्षायिक चारित्रवंत जीवों तथा अरहंत और सिद्धों का समावेश होता है।

३. क्षायिक भाववालों से अधिक संख्या क्षायोपशमिक भाववाले जीवों की है, क्योंकि इसमें एक से लेकर बारहवें गुणस्थानवाले जीवों का समावेश होता है।

४. क्षायोपशमिक भाववालों से भी अधिक संख्या औदयिक भाववालों की है, क्योंकि इसमें एक से लेकर चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवों का समावेश है।

५. सबसे अधिक संख्या पारिणामिक भाववाले जीवों की है, क्योंकि इसमें निगोद से लेकर सिद्ध तक के सर्व जीवों का समावेश होता है।

इसी क्रम को लक्ष में रखकर सूत्र में औपशमिकादिक भावों का क्रम रखा गया है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि –

१. पारिणामिक भाव के बिना कोई जीव नहीं है।

२. औदयिक भाव के बिना कोई संसारी जीव नहीं है।

३. क्षायोपशमिक भाव के बिना कोई छद्मस्थ नहीं है।

४. क्षायिक भाव के बिना क्षायिक समकिती, क्षायिक चारित्रवंत और अरहंत तथा सिद्ध नहीं हैं।

५. औपशमिक भाव के बिना कोई धर्म की शुरूआत वाले नहीं हैं।

**जिज्ञासु –** कौनसा भाव कितने काल तक ठहरता है ?

**प्रवचनकार –** सुनो ! मैं प्रत्येक का काल बताता हूँ –

१. औपशमिक भाव सादिसांत होता है, क्योंकि इसका काल ही अंतर्मुहूर्त मात्र है।

२. क्षायिक भाव सादिअनंत है और संसार में रहने की अपेक्षा से उत्कृष्ट काल ३३ सागर से कुछ अधिक काल कहा है।

३. क्षायोपशमिक भाव

अनादिसांत – ज्ञान, दर्शन, वीर्य की अपेक्षा से।

सादिसांत – धर्म की प्रगट पर्याय अपेक्षा से उत्कृष्ट ६६ सागर से कुछ अधिक काल।

४. औदयिक भाव

अनादिसांत – भव्य जीवों की अपेक्षा।

अनादिअनंत – अभव्य जीवों तथा दूरांदूरभव्य जीवों की अपेक्षा से।

५. पारिणामिक भाव – अनादिअनंत।

**जिज्ञासु –** यह तो समझ में आ गया। अब कृपा करके यह बताइये कि इन भावों में से ग्रहण करने योग्य व त्याग करने योग्य कौन-कौन से भाव हैं ? क्योंकि कहा है – ''बिने जाने तैं दोष-गुणन को, कैसे तजिए गहिए।''

**प्रवचनकार –** यह तुमने बहुत अच्छा पूछा; क्योंकि हेय, ज्ञेय, उपादेय को जाने बिना कोई जानकारी पूरी नहीं होती है।

---

१. पारिणामिक भाव को छोड़कर सभी भाव पर्यायरूप होने सादि सांत ही होते हैं, किन्तु पर्यायों के प्रवाहरूप क्रम की एकरूपता को लक्ष्य में रखकर यहाँ क्षायिकभाव को सादिअनंत कहा है।

यद्यपि औदयिकभाव प्रवाहरूप से अनादि का होता है और धर्मी जीव को उसका अंत भी आ जाता है। उस अपेक्षा से अनादिसांत कहा है, फिर भी उसका प्रवाह किसी जीव को एकरूप नहीं रखता है; उसी कारण औदयिक भाव को सादिसांत भी कहा है।

अभव्य जैसे भव्यों को दूरान्दूरभव्य कहते हैं।



१. औदयिक भाव हेय, औपशमिक भाव साधक तथा दशा का क्षायोपशमिक भाव और क्षायिक भाव प्रगट करने की अपेक्षा उपादेय और पारिणामिक भाव आश्रय करने की अपेक्षा परम उपादेय है।

२. औदयिक भाव विकार है, साधक के लिए हेय है, आश्रय करने योग्य नहीं है। औपशमिक भाव साधक का क्षायोपशमिक भाव सादिसांत है व एक समय की पर्याय हैं तथा क्षायिकभाव सादिअनंत है, पर्यायरूप है; अत: ये भी आश्रय करने योग्य नहीं हैं।

पारिणामिक भाव जो कि अनादिअनंत है, वह एक ही आश्रय करने योग्य है।

सारांश यह है कि जिनको धर्म करना हो, सुखी होना हो, उन्हें औदयिकादि चारों भावों पर से दृष्टि हटाकर मात्र परम पारिणामिक भावरूप त्रिकाली भूतार्थ ज्ञायकस्वभाव का ही आश्रय लेना चाहिए; क्योंकि उसके आश्रय से ही धर्म की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णता होती है।

---

**प्रश्न –**

१. जीव के असाधारण भाव कितने हैं व कौन-कौनसे ? नाम सहित लिखिए।
२. सबसे अधिक संख्या कौनसे भाववाले जीवों की है और क्यों ?
३. क्षायोपशमिक भाव कितने प्रकार के हैं ? नाम सहित लिखिए।
४. क्या अभव्यों के औपशमिक भाव हो सकते हैं ?
५. सिद्धों के कितने भाव हैं और कौन-कौन से ?
६. पाँचों भावों में हेय, ज्ञेय और उपादेय बताइये ।
७. आचार्य उमास्वामी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए।

## पाठ ७

# चार अभाव

**आचार्य समन्तभद्र**
(व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व)

**श्री मूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृत।**
**देशे समन्तभद्राख्यो, मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः ।।**

– कविवर हस्तिमल

लोकेषणा से दूर रहनेवाले स्वामी समन्तभद्र का जीवन-चरित्र एक तरह से अज्ञात ही है। जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि महान् से महान् कार्यों को करने के बाद भी उन्होंने अपने लौकिक जीवन के बारे में कहीं कुछ भी नहीं लिखा है। जो कुछ थोड़ा बहुत प्राप्त है, वह पर्याप्त नहीं है।

आप कदम्ब वंश के क्षत्रिय राजकुमार थे। आपके बाल्यकाल का नाम शान्ति वर्मा था। आपका जन्म दक्षिण भारत में कावेरी नदी के तट पर स्थित उरगपुर नामक नगर में हुआ था। आपका अस्तित्व विक्रम संवत् १३८ तक था।

आपके पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। आपने अल्पवय में ही मुनि दीक्षा धारण कर ली थी। दिगंबर जैन साधु होकर आपने घोर तपश्चरण किया और अगाध ज्ञान प्राप्त किया।

आप जैन सिद्धांत के तो अगाध मर्मज्ञ थे ही; साथ ही तर्क, न्याय, व्याकरण, छंद, अलंकार, काव्य और कोष के भी पण्डित थे। आपमें बेजोड़ वाद शक्ति थी। आपने कई बार घूम-घूमकर कुवादियों का गर्व खण्डित किया था। आप स्वयं लिखते हैं –

''वादार्थी विचराम्यहं नरपते, शार्दूलविक्रीडितम्।''

हे राजन्! मैं वाद के लिए सिंह की तरह विचरण कर रहा हूँ।

आपके परवर्ती आचार्यों ने भी आपका स्मरण बड़े सम्मान के साथ किया है। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में आपके वचनों को कुवादीरूपी पर्वतों को छिन्न-भिन्न करने के लिए वज्र के समान बताया है तथा आपको कवि, वादी,





गमक और वाग्मियों का चूड़ामणि कहा है –

नमः समन्तभद्राय, महते कविवेधसे।
यद्वचो वज्रपातेन, निर्भिन्नाः कुमताद्रयः।।
कवीनां गमकानां च, वादिनां वाग्मिनामपि।
यशः सामन्तभद्रीयं, मूर्ध्नि चूड़ामणीयते।।

गद्य चिंतामणिकार वादीभसिंह सूरि लिखते हैं –

सरस्वतीस्वैरविहारभूमयः,
समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः।
जयन्ति वाग्वज्रनिपातपाटि-
प्रतीपराद्धान्तमहीध्रकोटयः।।

चन्द्रप्रभचरित्रकार वीरनंदि आचार्य 'समन्तभद्रादिभवा च भारती' से कंठ विभूषित नरोत्तमों की प्रशंसा करते हैं तो आचार्य शुभचन्द्र 'ज्ञानार्णव' में इनके वचनों को अज्ञानांधकार के नाश हेतु सूर्य के समान स्वीकार करते हुए इनकी तुलना में औरों को खद्योतवत् बताते हैं –

समन्तभद्रादि कवीन्द्रभास्वतां,
स्फुरंति यत्रामलसूक्तिरश्मयः।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां,
न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः।।

आप आद्य स्तुतिकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। आपने स्तोत्र साहित्य को प्रौढ़ता प्रदान की है। आपकी स्तुतियों में बड़े-बड़े गंभीर न्याय भरे हुए हैं। आपके द्वारा लिखा गया 'आप्तमीमांसा' ग्रंथ एक स्तोत्र ही है, जिसे 'देवागम स्तोत्र' भी कहते हैं। वह इतना गंभीर एवं अनेकात्मक तत्त्व से भरा हुआ है कि उसकी कई टीकाएँ लिखी गई हैं, जो कि न्याय शास्त्र के अपूर्व ग्रंथ हैं। अकलंक की 'अष्टशती' और विद्यानन्दि की 'अष्टसहस्री' इसी की टीकाएँ हैं। प्रस्तुत 'चार अभाव' नाम का पाठ उक्त आप्तमीमांसा की कारिका क्रमांक ९, १० व ११ के आधार पर ही लिखा गया है।

इसके अलावा आपने तत्त्वानुशासन, युक्त्यनुशासन, स्वयंभूस्तोत्र, जिनस्तुतिशतक, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, प्राकृत व्याकरण, प्रमाण पदार्थ, कर्मप्राभृत टीका और गंधहस्तिमहाभाष्य (अप्राप्य) नामक ग्रंथों की रचना की है।

---

# चार अभाव

भावैकान्ते पदार्थानामभावनापह्नवात् ।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ।।९।।
कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्नवे ।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्तां व्रजेत् ।।१०।।
सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे ।
अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ।।११।।
– आप्तमीमांसा : आचार्य समन्तभद्र

**आचार्य समन्तभद्र –** वस्तुस्वरूप अनेकान्तात्मक है। जिसप्रकार स्व की अपेक्षा से भाव (सद्भाव) पदार्थ का स्वरूप है, उसीप्रकार पर की अपेक्षा से अभाव भी पदार्थ का धर्म है।[१]

**जिज्ञासु –** अभाव किसे कहते हैं ? वे कितने प्रकार के होते हैं ?

**आचार्य समन्तभद्र – एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ में अस्तित्व न होने को अभाव कहते हैं।** अभाव चार प्रकार के होते हैं – १) प्रागभाव, २) प्रध्वंसाभाव, ३) अन्योन्याभाव, ४) अत्यन्ताभाव।

**जिज्ञासु –** कृपया संक्षेप में चारों प्रकार के अभाव समझा दीजिए।

**आचार्य समन्तभद्र – पूर्व पर्याय में वर्तमान पर्याय का अभाव प्रागभाव है अथवा कार्य (पर्याय) होने के पूर्व कार्य (पर्याय) का नहीं होना ही प्रागभाव है।** इसीप्रकार **वर्तमान पर्याय का आगामी पर्याय में अभाव प्रध्वंसाभाव है।** जैसे दही की पूर्व पर्याय दूध थी, उसमें दही का अभाव था; अत: उस अभाव को प्रागभाव कहेंगे और छाछ दही की आगामी पर्याय है, उसमें भी वर्तमान पर्याय दही का अभाव है, अत: उस अभाव को प्रध्वंसाभाव कहेंगे।

**जिज्ञासु –** पूज्य गुरुदेव ! आपने दूध-दही का उदाहरण देकर तो समझा दिया। कृपया आत्मा पर घटाकर और समझा दीजिए।

**आचार्य समन्तभद्र –** अन्तरात्मारूप पर्याय का बहिरात्मारूप पूर्व पर्याय में अभाव प्रागभाव एवं परमात्मारूप आगामी पर्याय में अभाव प्रध्वंसाभाव कहा जावेगा।

---

१. ''भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो, भावान्तरं भाववदर्हतस्ते।''
– युक्त्यनुशासन : आचार्य समन्तभद्र, कारिका : ५९
''कार्यस्यात्मलाभात्प्रागऽभवनं प्रागभाव:।'' – अष्टसहस्री : विद्यानन्दि, पृष्ठ : ६७



**जिज्ञासु –** और अन्योन्याभाव ?

**आचार्य समन्तभद्र – एक पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय में दूसरे पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय का अभाव अन्योन्याभाव है।** जैसे नींबू की वर्तमान खटास, चीनी की वर्तमान मिठास में नहीं है।

**जिज्ञासु –** इसे भी आत्मा पर घटाकर बताइये न!

**आचार्य समन्तभद्र –** यह आत्मा पर नहीं घटेगा। तुमने परिभाषा ध्यान से नहीं पढ़ी इसलिए ऐसा प्रश्न करते हो। परिभाषा में स्पष्ट कहा है कि एक पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय में दूसरे पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय का अभाव अन्योन्याभाव है, अत: यह मात्र पुद्गल द्रव्य में ही घटता है तथा पुद्गल द्रव्यों की भी मात्र वर्तमान पर्याय में ही।

**जिज्ञासु –** अत्यन्ताभाव किसे कहते हैं ?

**आचार्य समन्तभद्र – एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं।** जैसे जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य में परस्पर अत्यन्ताभाव है।

ध्यान रहे अत्यन्ताभाव छहों द्रव्यों में से किन्हीं दो द्रव्यों में घटता है। अन्योन्याभाव दो पुद्गलों की वर्तमान पर्यायों में घटित होता है, प्रागभाव छहों द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य की वर्तमान व पूर्व पर्यायों में एवं प्रध्वंसाभाव छहों द्रव्यों में किसी एक ही द्रव्य की वर्तमान और उत्तर पर्यायों में घटित होता है। एक अत्यन्ताभाव द्रव्यसूचक है, बाकी तीनों अभाव पर्यायसूचक हैं।

इन चारों को संक्षेप में यों भी कह सकते हैं कि **जिसका अभाव होने पर नियम से कार्य की उत्पत्ति होती है, उसे प्रागभाव कहते हैं। जिससे सद्भाव होने पर नियम से विवक्षित कार्य का अभाव (नाश) होता है, उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं। अन्य (पुद्गल) के स्वभाव (वर्तमान पर्याय) में स्व (अन्य पुद्गल) स्वभाव (वर्तमान पर्याय) की व्यावृत्ति अन्योन्याभाव है तथा कालत्रय की अपेक्षा जो अभाव हो, वह अत्यन्ताभाव है।**[१]

**जिज्ञासु –** यदि इन चारों अभावों को न माना जाय तो क्या दोष है ?

---

१. ''यद्भावे हि नियमत: कार्यस्योत्पत्ति: स प्रागभाव:,
यद्भावे च कार्यस्य नियता विपत्ति स प्रध्वंस:,
स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोह: कालत्रयापेक्षाभावोत्यन्ताभाव:।''
– अष्टसहस्री : विद्यानन्दि, पृष्ठ : १०९

**आचार्य समन्तभद्र** – १) प्रागभाव न मानने पर समस्त कार्य (पर्यायें) अनादि सिद्ध होंगे।

२) प्रध्वंसाभाव के न मानने पर सर्व कार्य (पर्यायें) अनन्तकाल तक रहेंगे।

३) अन्योन्याभाव के न मानने पर सब पुद्गलों की पर्यायें मिलकर एक हो जावेंगी अर्थात् सब पुद्गल सर्वात्मक हो जावेंगे।

४) अत्यन्ताभाव के न मानने पर सब द्रव्य अस्वरूप हो जावेंगे अर्थात् सब अपने-अपने स्वरूप को छोड़ देंगे; प्रत्येक द्रव्य की विभिन्नता नहीं रहेगी, जगत के सब द्रव्य एक हो जावेंगे।

आशा है, चार अभावों का स्वरूप तुम्हारी समझ में अच्छी तरह आ गया होगा।

**जिज्ञासु** – जी हाँ, आ गया।

**आचार्य समन्तभद्र** – आ गया तो बताओ ! शरीर और जीव में कौनसा अभाव है ?

**जिज्ञासु** – अत्यन्ताभाव।

**आचार्य समन्तभद्र** – क्यों है ?

**जिज्ञासु** – क्योंकि एक पुद्गल द्रव्य है और दूसरा जीव द्रव्य है और दो द्रव्यों के बीच होनेवाले अभाव को ही अत्यन्ताभाव कहते हैं।

**आचार्य समन्तभद्र** – पुस्तक और घड़े में कौनसा अभाव है ?

**जिज्ञासु** – अन्योन्याभाव, क्योंकि पुस्तक और घड़ा दोनों पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्यायें हैं।

**आचार्य समन्तभद्र** – 'आत्मा अनादि केवलज्ञान पर्यायमय है' – ऐसा माननेवाले कौनसा अभाव नहीं मानते हैं ?

**जिज्ञासु** – प्रागभाव, क्योंकि केवलज्ञान ज्ञानगुण की पर्याय है; अत: केवलज्ञान होने से पूर्व की मतिज्ञानादि पर्यायों में उसका अभाव है।

**आचार्य समन्तभद्र** – 'यह वर्तमान राग मुझे जीवन भर परेशा करेगा' – ऐसा माननेवाले ने कौनसा अभाव नहीं माना ?

**जिज्ञासु** – प्रध्वंसाभाव, क्योंकि वर्तमान राग का भविष्य की चारित्रगुण की पर्यायों में अभाव है; अत: वर्तमान राग भविष्य के सुख-दु:ख का कारण नहीं हो सकता।

**शंकाकार** – इन चार प्रकार के अभावों को समझने से क्या लाभ है ?

**आचार्य समन्तभद्र** – अनादि से मिथ्यात्वादि महापाप करनेवाला आत्मा पुरुषार्थ करे तो वर्तमान में उनका अभाव कर सम्यक्त्वादि धर्म दशा प्रगट कर सकता है, क्योंकि वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्यायों में अभाव है; अत: प्रागभाव समझने से 'मैं पापी हूँ, मैंने बहुत पाप किये हैं, मैं कैसे तिर सकता हूँ ?' आदि हीन भावना निकल जाती है। इसीप्रकार प्रध्वंसाभाव के समझने से यह ज्ञान हो जाता है कि वर्तमान में कैसी भी दीन-हीन दशा हो, भविष्य में उत्तम से उत्तम दशा प्रगट हो सकती है, क्योंकि वर्तमान पर्याय का आगामी पर्यायों में अभाव है, अत: वर्तमान पामरता को देखकर भविष्य के प्रति निराश न होकर स्वसन्मुख होने का पुरुषार्थ प्रगट करने का उत्साह जागृत होता है।



**जिज्ञासु** – अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव से ?

**आचार्य समन्तभद्र** – एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-हर्ता नहीं है; क्योंकि उनमें आपस में अत्यन्ताभाव है – ऐसा समझने से 'दूसरा मेरा बुरा कर देगा' – ऐसा अनन्त भय निकल जाता है एवं 'दूसरे मेरा भला कर देंगे' – ऐसी परमुखापेक्षिता की वृत्ति निकल जाती है। इसीप्रकार अन्योन्याभाव के जानने से भी स्वाधीनता का भाव जागृत होता है, क्योंकि जब एक पुद्गल की पर्याय, दूसरे पुद्गल की पर्याय से पूर्ण भिन्न एवं स्वतन्त्र है तो फिर यह आत्मा से तो जुदी है ही।

इसतरह चारों अभावों के समझने से स्वाधीनता का भाव जागृत होता है, पर से आशा की चाह समाप्त होती है, भय का भाव निकल जाता है, भूतकाल और वर्तमान की कमजोरी और विकार देखकर उत्पन्न होनेवाली दीनता समाप्त हो जाती है और स्वसन्मुख होने का पुरुषार्थ जागृत होता है।

आशा है, तुम्हारी समझ में इनके जानने से क्या लाभ है, यह आ गया होगा।

**जिज्ञासु** – आ गया ! बहुत अच्छी तरह आ गया !!

**आचार्य समन्तभद्र** – आ गया तो बताओ ! 'शरीर मोटा-ताजा हो तो आवाज भी बुलन्द होती है' – ऐसा माननेवाला क्या गलती करता है ?

**जिज्ञासु** – वह अन्योन्याभाव का स्वरूप नहीं जानता; क्योंकि शरीर का मोटा-ताजा होना, आहार वर्गणारूप पुद्गल का कार्य है और आवाज बुलन्द होना, भाषा वर्गणा का कार्य है। इसप्रकार आवाज और शरीर की मोटाई में अन्योन्याभाव है।

**आचार्य समन्तभद्र** – 'ज्ञानावरण कर्म के क्षय के कारण आत्मा में केवलज्ञान होता है' – ऐसा माननेवाले ने क्या भूल की ?

**जिज्ञासु** – उसने अत्यन्ताभाव को नहीं जाना; क्योंकि ज्ञानावरण कर्म और

आत्मा में अत्यन्ताभाव है; फिर एक द्रव्य के कारण दूसरे द्रव्य में कार्य कैसे हो सकता है ?

**शंकाकार –** शास्त्र में ऐसा क्यों लिखा है कि ज्ञानावरण कर्म के क्षय से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है ?

**आचार्य समन्तभद्र –** शास्त्र में ऐसा निमित्त का ज्ञान कराने के लिए अद्भूत व्यवहार नय से कहा जाता है, किन्तु वस्तुत: (निश्चय नय से) विचार किया जाय तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य का कर्ता हो ही नहीं सकता।

इस तरह हम देखते हैं कि वस्तुस्वरूप तो अनेकान्तात्मक है। अकेला भाव ही वस्तु का स्वरूप नहीं है। अभाव भी वस्तु का धर्म है, उसे माने बिना वस्तु की व्यवस्था नहीं बनेगी। अत: चारों अभावों का स्वरूप अच्छी तरह समझकर मोह-राग-द्वेषादि विकार का अभाव करने के प्रति सावधान होना चाहिए।

---

**प्रश्न –**

१. अभाव किसे कहते हैं ? वे कितने प्रकार के होते हैं ? नाम सहित लिखिए।

२. निम्नलिखित में परस्पर अन्तर बताइये –

क) प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव

ख) अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव

३. अभावों को समझने से क्या लाभ है ?

४. निम्नलिखित अभावों के स्वरूप के सन्दर्भ में समीक्षा कीजिए –

क) ज्ञानावरण कर्म के क्षय से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

ख) कर्म के उदय से शरीर में रोग होते हैं।

ग) यह आदमी चोर है, क्योंकि इसने पहले स्कूल में पढ़ते समय मेरी पुस्तक चुरा ली थी।

५. निम्नलिखित जोड़ो में परस्पर कौनसा अभाव है –

क) इच्छा और भाषा   ख) चश्मा और ज्ञान

ग) शरीर और वस्त्र   घ) शरीर और जीव

६. आचार्य समन्तभद्र के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए।

# पाठ ८ | पाँच पाण्डव

## आचार्य जिनसेन

(व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व)

पुराण ग्रन्थों में पद्मपुराण के बाद जैन समाज में सबसे अधिक पढ़ा जानेवाला प्राचीन पुराण है– हरिवंशपुराण। इसमें छियासठ सर्ग और बारह हजार श्लोक हैं। इसमें बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ का चरित्र विशद रूप से वर्णित है। इसके अतिरिक्त कृष्ण-बलभद्र, कौरव-पाण्डव आदि अनेक इतिहासप्रसिद्ध महापुरुषों के चरित्र भी बड़ी खूबी के साथ चित्रित हैं।

इसके रचियता हैं आचार्य जिनसेन। आचार्य जिनसेन महापुराण के कर्त्ता भगवज्जिनसेनाचार्य से भिन्न हैं। ये पुन्नाट संघ के आचार्य थे। पुन्नाट कर्नाटक का प्राचीन नाम है। यह संघ कर्नाटक और काठियावाड़ के निकट २०० वर्ष तक रहा है। इस संघ पर गुजरात के राजवंशों की विशेष श्रद्धा और भक्ति रही है।

आपके गुरु का नाम कीर्तिषेण था और वर्द्धमान नगर के नन्नराज वसति नाम के मंदिर में रहकर इन्होंने विक्रम संवत् ८४० में यह ग्रन्थ समाप्त किया था। इस ग्रन्थ के अलावा आपका और कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं और न कहीं अन्य ग्रन्थों में उल्लेख ही मिलता हैं। आपकी अक्षय कीर्ति के लिये यह एक महाग्रन्थ ही पर्याप्त है।

हरिवंशपुराण के भाषा टीकाकार जयपुर के प्रसिद्ध विद्वान पण्डित दौलतरामजी कासलीवाल हैं।

प्रस्तुत पाठ आपके उक्त सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हरिवंशपुराण के आधार से ही लिखा गया है। पाण्डवों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिए हरिवंशपुराण और पाण्डवपुराण का अध्ययन करना चाहिए।

---

# पाँच पाण्डव

**सुरेश** – आज मैं तुझे नहीं छोड़ूँगा। जब तक पैसा नहीं देगा, तब तक नहीं छोड़ूँगा।

**रमेश** – क्यों नहीं छोड़ेगा ?

**सुरेश** – जब पैसे नहीं थे तो शर्त्त क्यों लगाई ?

**रमेश** – मैंने तो वैसे ही कह दिया था।

**सुरेश** – मैं कुछ नहीं जानता, निकाल पैसे ?

**रमेश** – पैसे हैं ही नहीं तो क्या निकालूँ ?

**सुरेश** – (कमीज पकड़कर) फिर शर्त्त क्यों लगाई ?

**अध्यापक** – क्यों भई रमेश-सुरेश ! क्यों लड़ रहे हो ? अच्छे लड़के इसतरह नहीं लड़ते। हमें अपने सब कार्य शान्ति से निपटाने चाहिए, लड़-झगड़कर नहीं।

**रमेश** – देखिए मास्टर साहब ! यह मुझे व्यर्थ ही परेशान कर रहा है।

**सुरेश** – मास्टर साहब ! यह मेरे पैसे क्यों नहीं देता ?

**अध्यापक** – क्यों रमेश ! तुम इसके पैसे क्यों नहीं देते ? अच्छे लड़के किसी से उधार लेकर उसे इसतरह परेशान नहीं करते। तुम्हें तो बिना मांगे उसके पैसे लौटाने चाहिए थे। यह मौका ही नहीं आना चाहिए था।

**रमेश** – गुरुजी ! मैंने पैसे इससे लिए ही कब हैं ?

**अध्यापक** – लिए नहीं तो फिर यह मांगता क्यों है ?

**सुरेश** – इसने पैसे नहीं लिये, पर शर्त्त तो लगाई थी और हार गया। अब पैसे क्यों नहीं देता ?

**अध्यापक** – हाँ ! तुम जुआँ खेलते हो ? अच्छे लड़के जुआँ कभी नहीं खेलते।

**सुरेश** – नहीं साहब ! हमने तो शर्त्त लगाई थी। जुआँ कब खेला ?

**अध्यापक** – हार-जीत पर दृष्टि रखते हुए रुपये-पैसे या किसी प्रकार के धन से खेल खेलना या शर्त्त लगाकर कोई काम करना या दाव लगाना ही तो जुआँ है। यह बहुत बुरा व्यसन है। इसके चक्कर में फँसे लोगों का आत्महित तो बहुत दूर, लौकिक जीवन भी अस्त-व्यस्त हो जाता है। महाप्रतापी पाण्डवों को भी





इसके सेवन से बहुत कठिनाईयाँ उठानी पड़ी थीं। अत: आज से प्रतिज्ञा करो कि अब कभी भी जुआँ नहीं खेलेंगे, शर्त्त लगाकार कोई कार्य नहीं करेंगे।

**सुरेश** – ये पाण्डव कौन थे ?

**अध्यापक** – बहुत वर्षों पहिले इस भारतवर्ष में कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में कुरूवंशी राजा धृतराज राज्य करते थे। उनके तीन रानियाँ थीं – अंबिका, अंबालिका और अंबा। तीनों रानियों से क्रमश: धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर नामक तीन पुत्र हुए। राता धृतराज के भाई रुक्मण के पुत्र का नाम भीष्म था।

धृतराष्ट्र के गान्धारी नामक रानी से दुर्योधन आदि सौ पुत्र उत्पन्न हुए, जिन्हें कौरव नाम से जाना जाता है। पाण्डु के कुन्ती और माद्री नामक दो रानियाँ थीं। कुन्ती से कर्ण नामक पुत्र तो पाण्डु के गुप्त (गांधर्व) विवाह से हुआ, जिसे बदनामी के भय से अलग कर दिया गया था और वह अन्यत्र पलकर बड़ा हुआ तथा युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तीन पुत्र बाद में हुए। माद्री से नकुल और सहदेव दो पुत्र हुए। पाण्डु के युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव – ये पाँच पुत्र ही पाँच पाण्डव नाम से जाने जाते हैं।

**सुरेश** – हमने तो सुना है कि कौरव और पाण्डवों के बीच बहुत बड़ा युद्ध हुआ था।

**अध्यापक** – कौरव और पाण्डवों में राज्य के लिए आपस में तनाव बढ़ गया था; पर भीष्म, विदुर और गुरु द्रोणाचार्य ने बीच में पड़कर समझौता करा दिया था। आधा राज्य कौरवों को और आधा राज्य पाण्डवों को दिला दिया, पर उनका मानसिक द्वन्द्व समाप्त नहीं हुआ।

**रमेश** – गुरु द्रोणाचार्य कौन थे ?

**अध्यापक** – तुम गुरु द्रोणाचार्य के बारे में भी नहीं जानते हो ? ये भार्गववंशी, धनुर्विद्या में प्रवीण आचार्य थे। इन्होंने ही कौरव और पाण्डवों को धनुर्विद्या सिखाई थी। इनका पुत्र अश्वत्थामा था, जो इनके समान ही धनुर्विद्या में प्रवीण था।

**सुरेश** – जब समझौता हो गया था तो फिर लड़ाई क्यों हुई ?

**अध्यापक** – तुमसे कहा था न कि उनका मन साफ नहीं हुआ था। एक बार जब पाण्डव अपने महल में सो रहे थे तो कौरवों ने उनके घर में आग लगवा दी।

**रमेश** – आग लगवा दी ? यह तो बहुत बुरा काम किया उन्होंने। तो क्या पाण्डव उसमें जल मरे ?

**अध्यापक** – नहीं भाई, सुनो ! उन्होंने बुरा काम तो किया ही। इसप्रकार की हिंसात्मक प्रवृत्तियों से ही देश और समाज नष्ट होते हैं। पाण्डव तो सुरंग मार्ग से निकल गये पर लोगों ने यही जाना कि पाण्डव जल गये हैं। कौरवों की इस काण्ड से लोक में बहुत निन्दा हुई, पर वे प्रसन्न थे। दुर्जनों की प्रवृत्ति ही हिंसा में आनन्द मानने की होती है।

**रमेश** – फिर पाण्डव लोग कहाँ चले गये ?

**अध्यापक** – कुछ काल तो वे गुप्तवास में रहे और घूमते-घूमते राजा द्रुपद की राजधानी माकन्दी पहुँचे। वहाँ राजा द्रुपद की पुत्री का स्वयंवर हो रहा था, जिसमें धनुष चढ़ाने वाले को द्रौपदी वरेगी – ऐसी घोषणा की गई थी। उक्त स्वयंवर में दुर्योधनादि कौरव भी आये हुए थे, पर किसी से भी वह देवोपुनीत धनुष नहीं चढ़ाया गया। आखिर में अर्जुन ने उसे क्रिड़ामात्र में चढ़ा दिया और द्रौपदी ने अर्जुन के गले में वरमाला डाल दी।

**रमेश** – हमने तो सुना है कि द्रौपदी ने पाँचों पाण्डवों को वरा था ?

**अध्यापक** – नहीं भाई ! द्रौपदी तो महासती थी। उसने तो अर्जुन के कण्ठ में वरमाला डाली थी। वह तो युधिष्ठिर और भीम को जेठ होने से पिता के समान एवं नकुल व सहदेव को देवर होने से पुत्र के समान मानती थी।

**सुरेश** – तो फिर ऐसा क्यों कहा जाता है ?

**अध्यापक** – भाई ! बात यह है कि जब द्रौपदी अर्जुन के गले में वरमाला डाल रही थी तो वरमाला का डोरा टूट गया और कुछ फूल बिखर कर पास में स्थित चार पाण्डवों पर भी गिर गये और उनसे जलन रखनेवाले तथा द्रौपदी प्राप्त करने की आशा से आये हुए लोगों ने अपवाद फैला दिया कि उसने पाँचों पाण्डवों को वरा है।

पाण्डव विप्र वेश में थे। अत: वहाँ उपस्थित राजागण व दुर्योधनादि कौरव कोई भी उन्हें पहिचान नहीं पाये, दुर्योधनादि को यह अच्छा न लगा कि उनकी उपस्थिति में एक साधारण विप्र द्रौपदी को वर ले जावे। अत: उसने सब राजाओं को भड़काया कि महाप्रतापी राजाओं की उपस्थिति में एक साधारण विप्र को द्रौपदी वरण करे – यह सब राजाओं का अपमान है।

परिणामस्वरूप दुर्योधनादि सहित उपस्थित सब राजागण और पाण्डवों में भयंकर युद्ध हुआ।



धनुर्धारी अर्जुन के सामने जब कोई भी धनुर्धारी टिक न सका, तब स्वयं गुरु द्रोणाचार्य युद्ध करने आये। सामने गुरुदेव को खड़ा देख अर्जुन विनय से नम्रीभूत हो गया और गुरु को नमस्कार कर बाण द्वारा परिचय पत्र गुरुदेव के पास भेजा।

गुरु द्रोण को जब यह पता चला कि अर्जुन आदि पाण्डव अभी जीवित हैं तो उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई और उन्होंने सबसे यह समाचार कहा। एक बार फिर गुरु द्रोण एवं भीष्म पितामह ने कौरव और पाण्डवों में मेल-मिलाप करा दिया।

इसप्रकार पुन: कौरव और पाण्डवों का मिलाप हुआ तथा वे दुबारा आधा-आधा राज्य लेकर हस्तिनापुर में रहने लगे।

**सुरेश** – गुरुदेव ! आपने तो पाण्डवों के जुआ खेलने की बात कही थी, वह तो इस कहानी में कहीं आई ही नहीं ?

**अध्यापक** – हाँ, सुनो ! एक दिन दुर्योधन और युधिष्ठिर शर्त लगाकर 'पासों का खेल' खेल रहे थे। उन्होंने पासों के खेल ही में १२ वर्ष के राज्य को भी दाव पर लगा दिया। दुर्योधन कपट से दाव जीत गया और युधिष्ठिरादि पाण्डवों को १२ वर्ष के लिये राज्य छोड़कर अज्ञातवास में रहना पड़ा।

इसलिये तो कहा है – 'शर्त लगाकर कोई काम करना यानी जुआँ खेलना सब अनर्थों की जड़ है।' आत्मा का हित चाहनेवाले पुरुष को इससे सदा दूर ही रहना चाहिये। देखो ! महाबलधारी एवं उसी भव से मोक्ष जानेवाले युधिष्ठिरादि को भी इसके सेवन के फलस्वरूप बहुत विपत्तियों का सामना करना पड़ा।

**रमेश** – तो फिर वे बारह वर्ष तक कहाँ रहे ?

**अध्यापक** – कोई एक जगह थोड़े ही रहे। वेश बदलकर जगह-जगह घूमते रहें।

**सुरेश** – हमने सुना है कि भीम बहुत बलवान था। उसने महाबली कीचक को बहुत पीटा था।

**अध्यापक** – हाँ ! यह घटना भी उनके बारहवर्षीय अज्ञातवास के काल में ही घटी थी। जब वे विचरते-विचरते विराटनगर पहुँचे तो गुप्तवेश में ही राजा विराट के यहाँ विविध पदों पर काम करने लगे। युधिष्ठिर पण्डित बनकर, भीम रसोइयाँ बनकर, अर्जुन नर्तकी बनकर और नकुल तथा सहदेव अश्वशाला के अधिकारी बन कर रहे। द्रौपदी भी मालिन बनकर रहने लगी।

राजा विराट की रानी का नाम था सुदर्शना और उसका भाई था कीचक। उसने द्रौपदी को साधारण मालिन समझा था। अत: द्रौपदी को अनेक प्रकार के लोभ दिखाकर अपना बुरा भाव प्रगट करने लगा। द्रौपदी ने यह बात अपने जेठ भीम से कही। भीम ने उससे कहा कि तुम उससे नकली स्नेहपूर्ण बात बनाकर मिलने का स्थान और समय निश्चित कर लेना। फिर मैं सब देख लूँगा। पापी कीचक को अपने किए की सजा मिलनी ही चाहिये।

**रमेश** – फिर क्या हुआ ?

**अध्यापक** – फिर क्या ? द्रौपदी ने नकली स्नेह द्वारा उससे रात्रि का समय व एकान्त स्थान निश्चित कर लिया, फिर भीम द्रौपदी के कपड़े पहिन कर निश्चित स्थान पर निश्चित समय के पूर्व ही पहुँच गये।

कामासक्त कीचक जब वहाँ पहुँचा तो द्रौपदी को वहाँ आई जान बहुत प्रसन्न हुआ और उससे प्रेमालाप करने लगा, किन्तु उस पापी को प्रेमालाप का उत्तर जब भीम के कठोर मुष्ठिका-प्रहारों से मिला तो तिलमिला गया। उसने अपनी शक्ति अनुसार प्रतिरोध करने का बहुत यत्न किया पर भीम के आगे उसकी एक न चली और निर्मद दीन-हीन दशा में देख दयालु भीम ने भविष्य में ऐसा काम न करने की चेतावनी देकर छोड़ दिया। उसे अपने किये की सजा मिल गई।

**सुरेश** – उसके बाद पाण्डवों का क्या हुआ ?

**अध्यापक** – उसके बाद वे अपने मामा के यहाँ द्वारिका चले गये। द्वारकाधीश कृष्ण के पिता वसुदेव और भगवान नेमिनाथ के पिता समुद्रविजय पाण्डवों के मामा थे। उन्होंने बहिन सहित आये अपने भानजों का बहुत आदर-सत्कार किया।

**सुरेश** – गुरुजी ! कौरवों और पाण्डवों का आपस में बड़ा भारी युद्ध भी तो हुआ था ?

**अध्यापक** – हाँ ! हुआ था, पर वह युद्ध मात्र कौरव और पाण्डवों का ही नहीं था। उस युद्ध में तो सम्पूर्ण भारतवर्ष ही उलझ गया था, क्योंकि उस युद्ध में पाण्डवों के साथ नारायण श्रीकृष्ण एवं कौरवों के साथ प्रतिनारायण जरासन्ध हो गये थे; अत: उस युद्ध ने नारायण और प्रतिनारायण के महायुद्ध का रूप ले लिया था। जब उस युद्ध में नारायण श्रीकृष्ण की विजय हुई और वे त्रिखण्डी अर्द्धचक्रवर्ती



राजा हुए तो पाण्डवों को स्वभावत: ही हस्तिनापुर का महामण्डलेश्वर पद प्राप्त हुआ। युधिष्ठिर गंभीर प्रकृति के सहज धर्मानुरागी न्यायवंत राजा थे, अत: वे धर्मराज युधिष्ठिर के नाम से जाने जाते थे। भीम में शारीरिक बल अतुलनीय था तथा वे मल्लविद्या में अद्वितीय थे एवं अर्जुन अपनी बाणविद्या में जगत प्रसिद्ध धनुर्धर थे। वे बहुत काल तक शांतिपूर्वक राज्य सुख भोगते रहे।

**रमेश** – फिर ?

**अध्यापक** – फिर क्या ? बहुत काल बाद द्वारिका-दाह की भयंकर घटना ने उनके हृदय को झकझोर दिया और उनका चित्त संसार से उदास हो गया। एक दिन वे विरक्त-हृदय पाण्डव भगवान नेमिनाथ की वन्दना के लिए सपरिवार उनके समवशरण में गये। वहाँ भगवान की दिव्यध्वनि को सुनकर उनका वैराग्य और अधिक प्रबल हो गया। दिव्यध्वनि में आ रहा था कि – भोगों में सच्चा सुख नहीं है, सच्चा सुख आत्मा में है। आत्मा का हित तो आत्मा को समझकर उससे भिन्न समस्त पर-पदार्थों से ममत्व हटाकर ज्ञान-स्वभावी आत्मा में एकाग्र होने में है। लौकिक लाभ-हानि तो पुण्य-पाप का खेल है, उसमें आत्मा का हित नहीं। यह आत्मा व्यर्थ ही पुण्य के उदय में हर्ष और पाप के उदय में विषाद मानता है। मनुष्य-भव की सार्थकता तो समस्त जगत से ममत्व हटाकर आत्म-केन्द्रित होने में है।

भगवान की दिव्यवाणी सुनकर पाँचों पाण्डवों ने उसी समय भगवान से भवभ्रमण का नाश करनेवाली दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली तथा उनकी माता कुन्ती एवं द्रौपदी, सुभद्रा आदि अनेक रानियों ने आर्यिका राजमती (राजुल) के पास आर्यिका के व्रत स्वीकार कर लिये।

**सुरेश** – फिर ?

**अध्यापक** – फिर क्या ? पाँचों पाण्डव मुनिराज आत्म-साधना में तत्पर हो घोर तपश्चरण करने लगे। एक दिन वे शत्रुंजय गिरि पर ध्यानमग्न थे। उसीसमय वहाँ दुर्योधन का वंशज यवरोधन आया और पाण्डवों को ध्यान अवस्था में देखकर उसका क्रोध प्रज्वलित हो गया। वह सोचने लगा ये ही वे दुष्ट पाण्डव हैं, जिन्होंने हमारे पूर्वज दुर्योधनादि कौरवों की दुर्दशा की थी। अभी ये नि:सहाय हैं, हथियार विहीन हैं, इस समय इनसे बदला लेना चाहिये और इन्हें

अपने किए का मजा चखाना चाहिये। यह सोचकर उस दुष्ट ने लोहे के गहने बनाकर उन्हें आग में तपाकर लालसुर्ख कर दिये और पाँचों पाण्डवों को ध्यानावस्था में पहिनाकर कहने लगा, दुष्टों ! अपने किए का मजा चखो।

**रमेश** – हैं ! क्या कहा ! उस दुष्ट ने पाण्डवों को जला डाला ?

**अध्यापक** – वह महामुनि पाण्डवों को क्या जलाता, वह स्वयं द्वेष की आग में जल रहा था। उसके द्वारा पहिनाए गरम लोहे के आभूषणों से पाण्डवों की काया अवश्य जल रही थी, किन्तु वे स्वयं तो ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा में लीन थे और आत्मलीनता की अपूर्व शीतलता में अनन्त शान्त थे तथा ध्यान की ज्वाला से शुभाशुभ भावों को भस्म कर रहे थे।

**सुरेश** – फिर क्या हुआ ? क्या वे जल गये ?

**अध्यापक** – हाँ, उनकी पार्थिव देह तो जल गई। साथ ही तीन पाण्डव – युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ने तो क्षपक-श्रेणी का आरोहण कर अष्ट कर्मों को भी जला डाला और केवलज्ञान पाकर शत्रुंजय गिरि से सिद्धपद प्राप्त किया तथा नकुल व सहदेव ने देवायु का बन्ध कर सर्वार्थसिद्धि प्राप्त की। वे भी वहाँ से आकर एक मनुष्य भव धारण करके मोक्ष प्राप्त करेंगे।

**रमेश** – अच्छा तो ! शत्रुंजय इसीलिए सिद्धक्षेत्र कहलाता है, क्योंकि वहाँ से तीन पाण्डव मोक्ष गये थे। वह शत्रुंजय है कहाँ ?

**अध्यापक** – हाँ भाई ! यह गुजरात प्रान्त के सौराष्ट्रवाले भाग में भावनगर के पास स्थित है। इसे पालीताना भी कहते हैं।

**सुरेश** – सोनगढ़ के पास में। सोनगढ़ तो मैं गया था। भावनगर के पास ही तो सोनगढ़ है।

**अध्यापक** – हाँ भाई ! सोनगढ़ से कुल १८ किलोमीटर है शत्रुंजय गिरि। वहाँ की वन्दना हमें अवश्य करनी चाहिए तथा पाण्डवों के जीवन से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

**सुरेश** – हाँ ! अब मैं समझा कि आत्म-साधना के बिना लौकिक जीत-हार का कोई महत्त्व नहीं है। आत्मा की सच्ची जीत तो मोह-राग-द्वेष के जीतने में है।

**रमेश** – और जुआँ के व्यसन में पड़कर महापराक्रमी पाण्डवों को भी अनेक विपत्तियों में पड़ना पड़ा, अत: हमें कोई भी काम शर्त लगाकर नहीं करना चाहिये।



**अध्यापक** – बहुत अच्छा ! आज तुमने सच्चा और सार्थक पाठ पढ़ा। प्रतिज्ञा करो कि आज से काई कार्य शर्त लगाकर नहीं करेंगे।

**सुरेश और रमेश** (एक साथ) –

हाँ गुरुदेव ! हम प्रतिज्ञा करते हैं कि आज से कोई भी कार्य शर्त्त लगाकर नहीं करेंगे और अपने साथियों को भी शर्त्त लगाकर काम नहीं करने की प्रेरणा देंगे।

---

**प्रश्न** –

१. पाण्डवों की कहानी लिखिये ? इससे हमें क्या शिक्षा मिलती है ?

२. क्या द्रौपदी के पाँच पति थे ? यदि नहीं, तो फिर ऐसा क्यों कहा जाता है ?

---

## पाँच पाण्डव

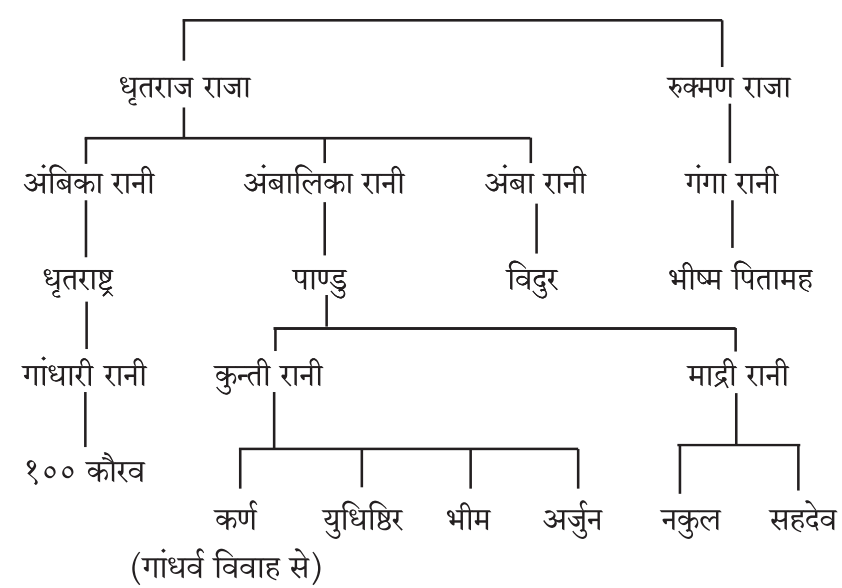

# पाठ ९ भावना बत्तीसी

## आचार्य अमितगति[1]

(व्यक्तित्व एवं कर्त्तृत्व)

विक्रम की ग्यारहवीं शती के प्रसिद्ध आचार्य अमितगति को वाक्पतिराज मुंज की राजसभा में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। राजा मुंज उज्जैनी के राजा थे। वे स्वयं बड़े विद्वान व कवि थे। आचार्य अमितगति बहुश्रुत विद्वान व विविध विषयों के ग्रन्थ-निर्माता थे। उनके द्वारा रचित सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं। उन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुभाषित रत्नसंदोह' वि. सं. १०५० में तथा 'धर्मपरीक्षा' वि. सं. १०७० में समाप्त किया था। उनके ग्रन्थों की विषयवस्तु और भाषा-शैली सरल, सुबोध व रोचक है। आपकी निम्न रचनायें उपलब्ध हैं - सुभाषित रत्नसंदोह, धर्मपरीक्षा, भावना-द्वात्रिंशतिका। पंचसंग्रह, उपासकाचार, आराधना भी इनकी रचनाएँ हैं।

'सुभाषित रत्नसंदोह' एक सुभाषित ग्रन्थ है। इसमें ३२ प्रकरण व ९२२ छन्द हैं। सुभाषित नीति साहित्य में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुभाषित प्रेमियों को इनका अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

'धर्मपरीक्षा' संस्कृत साहित्य में अपने ढंग का एक निराला ग्रन्थ है। इसमें पुराणों की ऊँटपटांग कथाओं और मान्यताओं को मनोरंजक रूप में प्रस्तुत करके अविश्वसनीय ठहराया गया है। यह १९४५ छन्दों का ग्रन्थ है। तत्त्वप्रेमियों को इसका अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

प्रस्तुत पाठ आपकी 'भावना-द्वात्रिंशतिका' का हिन्दी पद्यानुवाद है, जो कि श्री जुगलकिशोरजी 'युगल', कोटा ने किया है।

---

१. जैन साहित्य और इतिहास : नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ : २७५





## भावना बत्तीसी

प्रेम भाव हो सब जीवों से, गुणीजनों में हर्ष प्रभो।
करुणा-स्रोत बहें दुखियों पर, दुर्जन में मध्यस्थ विभो।।१।।

यह अनन्त बल-शील आतमा, हो शरीर से भिन्न प्रभो।
ज्यों होती तलवार म्यान से, वह अनन्त बल दो मुझको।।२।।

सुख-दुख, वैरी-बन्धु वर्ग में, काँच-कनक में समता हो।
वन-उपवन, प्रासाद[1]-कुटी में, नहीं खेद नहिं ममता हो।।३।।

जिस सुन्दरतम पथ पर चलकर, जीते मोह मान मन्मथ[2]।
वह सुंदर-पथ ही प्रभु मेरा, बना रहे अनुशीलन पथ।।४।।

एकेन्द्रिय आदिक प्राणी की, यदि मैंने हिंसा की हो।
शुद्ध हृदय से कहता हूँ वह, निष्फल हो दुष्कृत्य प्रभो।।५।।

मोक्षमार्ग प्रतिकूल[3] प्रवर्त्तन, जो कुछ किया कषायों से।
विपथ[4]-गमन सब कालुष मेरे, मिट जायें सद्भावों से।।६।।

चतुर वैद्य विष विक्षत[5] करता, त्यों प्रभु! मैं भी आदि उपाँत।
अपनी निंदा आलोचन से, करता हूँ पापों को शान्त।।७।।

सत्य अहिंसादिक व्रत में भी, मैंने हृदय मलीन किया।
व्रत-विपरीत प्रवर्तन करके, शीलाचरण[6] विलीन[7] किया।।८।।

कभी वासना[8] की सरिता का, गहन[9]-सलिल मुझ पर छाया।
पी-पीकर विषयों की मदिरा, मुझमें पागलपन आया।।९।।

मैंने छली और मायावी, हो असत्य आचरण किया।
पर-निन्दा गाली चुगली जो, मुँह पर आया वमन किया।।१०।।

निरभिमान उज्ज्वल मानस हो, सदा सत्य का ध्यान रहे।
निर्मल जल की सरिता सदृश, हिय में निर्मल ज्ञान बहे।।११।।

---

१. महल, २. कामदेव, ३. विरुद्ध, ४. खोटा मार्ग, ५. नष्ट, ६. सदाचार, ७. लोप, ८. इन्द्रियों-विषयों की चाह ९. गहरा

मुनि चक्री[१] शक्री[२] के हिय में, जिस अनन्त का ध्यान रहे।
गाते वेद पुराण जिसे वह, परम देव मम हृदय रहे।।१२।।
दर्शन-ज्ञान स्वभावी जिसने, सब विकार ही वमन किये।
परम ध्यान गोचर परमातम, परम देव मम हृदय रहे।।१३।।
जो भवदुःख का विध्वंसक है, विश्व विलोकी[३] जिसका ज्ञान।
योगी जन के ध्यान गम्य वह, बसे हृदय में देव महान।।१४।।
मुक्ति-मार्ग का दिग्दर्शक है, जन्म-मरण से परम अतीत[४]।
निष्कलंक त्रैलोक्य-दर्शि वह, देव रहे मम हृदय समीप।।१५।।
निखिल-विश्व के वशीकरण में, राग रहे ना द्वेष रहे।
शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूपी, परम देव मम हृदय रहे।।१६।।
देख रहा जो निखिल-विश्व को, कर्मकलंक विहीन विचित्र।
स्वच्छ विनिर्मल निर्विकार वह, देव करे मम हृदय पवित्र।।१७।।
कर्मकलंक अछूत न जिसका, कभी छू सके दिव्यप्रकाश।
मोह-तिमिर को भेद चला जो, परम शरण मुझको वह आप्त[५]।।१८।।
जिसकी दिव्यज्योति के आगे, फीका पड़ता सूर्यप्रकाश।
स्वयं ज्ञानमय स्व-पर प्रकाशी, परम शरण मुझको वह आप्त।।१९।।
जिसके ज्ञान रूप दर्पण में, स्पष्ट झलकते सभी पदार्थ।
आदि अन्त से रहित शान्त शिव, परमशरण मुझको वह आप्त।।२०।।
जैसे अग्नि जलाती तरु को, तैसे नष्ट हुए स्वयमेव।
भय-विषाद-चिन्ता सब जिसके, परम शरण मुझको वह देव।।२१।।
तृण, चौकी, शिल[६] शैल, शिखर[७] नहीं, आत्मसमाधि के आसन।
संस्तर, पूजा, संघ-सम्मिलन, नहीं समाधि के साधन।।२२।।
इष्ट-वियोग[८], अनिष्ट-योग[९] में, विश्व मनाता है मातम[१०]।
हेय[११] सभी है विश्व वासना, उपादेय[१२] निर्मल आतम।।२३।।

१. चक्रवर्ती, २. इन्द्र, ३. संपूर्ण विश्व को जाननेवाला, ४. रहित,
५. देव, ६. शिला, ७. पर्वत की चोटी,
८. प्रिय पदार्थों का बिछुड़ जाना, ९. अप्रिय पदार्थों का संयोग, १०. शोक,
११. त्याज्य, १२. ग्रहण करने योग्य



बाह्य जगत कुछ भी नहीं मेरा, और न बाह्य जगत का मैं।
यह निश्चय कर छोड़ बाह्य को, मुक्ति हेतु नित स्वस्थ रमें।।२४।।
अपनी निधि तो अपने में है, बाह्य वस्तु में व्यर्थ प्रयास।
जग का सुख तो मृग-तृष्णा है, झूठे हैं उसके पुरुषार्थ।।२५।।
अक्षय है शाश्वत[१] है आत्मा, निर्मल ज्ञानस्वभावी है।
जो कुछ बाहर है, सब पर है, कर्माधीन विनाशी है।।२६।।
तन से जिसका ऐक्य नहीं, हो सुत-तिय-मित्रों से कैसे।
चर्म दूर होने पर तन से, रोम समूह रहें कैसे।।२७।।
महा कष्ट पाता जो करता, पर पदार्थ जड़ देह संयोग।
मोक्ष-महल का पथ है सीधा, जड़[२] चेतन का पूर्ण वियोग[३]।।२८।।
जो संसार पतन के कारण, उन विकल्प-जालों को छोड़।
निर्विकल्प, निर्द्वन्द्व[४] आतमा, फिर-फिर लीन उसी में हो।।२९।।
स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।
करें आप फल देय अन्य[५] तो, स्वयं किये निष्फल होते।।३०।।
अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई न फल देता कुछ भी।
पर देता है यह विचार तज, स्थिर हो छोड़ प्रमादी बुद्धि।।३१।।
निर्मल, सत्य, शिवं, सुन्दर है, 'अमितगति' वह देव महान।
शाश्वत निज में अनुभव करते, पाते निर्मल पद निर्वाण।।३२।।

१. सतत रहनेवाला, २. अजीव शरीरादिक,
३. अलग हो जाना, ४. संसार के पचड़ो से रहित,
५. कार्य स्वयं करे और अपने किये कर्म (कार्य) का फल दूसरे के आधीन हो तो संसार में पुरुषार्थ करने का कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

---

**प्रश्न –**

१. उपरोक्त भावना में से कोई दो छन्द जो आपको रुचिकर लगे हों, अर्थसहित लिखिए।
२. आचार्य अमितगति के व्यक्तित्व व कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए।